अहमदाबादस्थ दाताओं की शुभनामावली

५०१) श्री खरतरगच्छ सघ तरफसे वहीवटदार कोठारी चदुलाल मोहनलाल

१०१) खरतरगच्छना सेठ कोठारी भाई मणीलाल मोहनलाल

१०१) खरतरगच्छ ना सेठ भाई चदुलाल मोहनलाल, ख०गच्छना वहीवटदार

२०१) सेठ हीराचन्द्रजी देवेन्द्रकुमार गोलेछा

१०१) सेठ सरदारमलजी पावुदानजी

५१) सेठ धनाजी रत्नाजी

५१) सेठ परीख मगलदास नगीनदास

८१) सेठ गोकलदासजी माणेकजी

४१) सेठ राणाजी भारताजी

८१) सेठ मूलचदजी वद्रीदासजी

११) सेठ हीरालालजी लूणिआ

उरसि मे यया सिक्तं स्नेहदुग्धं तपोमयम् ।
श्यामायै मातृरूपायै सूनुनेदं समर्प्यते ।।

श्यामासूनु —
विनय

भूमिका

उपाध्याय श्रीवल्लभ रचित अरनाथ–जिनस्तव वृत्ति-सहित पाठको के सामने हैं । इसमे अठारहवे तीर्थङ्कर श्रीअरनाथ[1] का स्तवन किया गया है । कुल मिलाकर इसमे ५५ छन्दो मे स्तुति की गई है, जिनमे से प्रत्येक पर लेखक ने स्वय वृत्ति लिखी है, जैसा कि वृत्ति के अन्तिम पद्य से पता लगता है —

येपा स्फुरत्प्रतापाधिक्यजित सन्निरन्तर भानु ।
भ्रमतितमावियति हि ते, ज्ञानविमलवाचका नन्द्यु ॥
तत्पादाम्वुजमधुकरशिष्यश्रीवल्लभेन गणिना वै ।
विहिता स्तववृत्तिरिय, यदनृतमिह तद्बुधै शोध्यम् ॥

इस पुस्तक की विशेपता यह है कि इसमे एक सहस्र रकारो का प्रयोग किया गया है । एक रकार यहाँ एक कमलदल का प्रतीक है, अत सहस्र रकारों के प्रयोग द्वारा एक सहस्रदल कमलरूप स्तवन की कल्पना की गई है । ऐसा करने मे सचमुच वडे प्रयत्न, पाण्डित्य और प्रतिभाकी आवश्यकता थी । अतएव लेखक ने एक प्रकार की गर्वोक्ति के रूप मे प्रारम्भ मे ही कहा है .—

---

१ अरनाथका चरित देखनेके लिये देखे, हेमचन्द्राचार्य प्रणीत त्रिशष्ठिशलाकापुरुषचरित ।

स्वकीयविद्यागुरुसत्प्रसादात्,
करोमि वृत्तिं स्तवनस्य चार्वीम् ।
अर जिन हर्षकर प्रणम्य,
सहस्रपत्राम्बुजगर्भितस्य ।।

सहस्रदलकमल का सम्बन्ध इस देश मे योगशास्त्र से रहा है; वस्तुतः यह कल्पना उद्भूत ही वहाँ से हुई। योग मे उच्चतम अनुभूति को विभिन्न पद्धतियों मे शतदलकमल या सहस्रदलकमल के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया गया है। वैदिक-साहित्य मे इसे कभी कभी सहस्राक्षरा वाक् या सहस्रधार-पवमान भी कहा गया है। यह सहस्राक्षरा वाक् ही सभवतः पुद्गल – परमाणुओ के आत्यन्तिक निरसन के पश्चात् अवशिष्ट शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा है जिसके इस रूप को ही "सहस्रमुख शेष" के प्रतीक मे मूर्तिमान किया गया हो। यही कल्पना सहस्रारचक्र के मूल मे भी है, क्योकि इसमे सन्देह नही कि जैन, बौद्ध तथा वैदिक वाङ्मय मे विविधरूप मे प्रयुक्त चक्र अन्त मे कमल के साथ तादात्म्य करने लगा था; अशोक स्तम्भो पर निर्मित चक्र की रचना इसका सब से बड़ा प्रमाण है।

अस्तु, सहस्रदलकमलगर्भित स्तवन का प्रयोग एक तीर्थङ्कर के लिये अत्यन्त ही उपयुक्त है। 'तीर्थङ्कर' शब्द का अर्थ प्राय चतुर्विधसंघकर्ता किया जाता है। यद्यपि इस अर्थ को अव्यवहार्य नही कहा जासकता, परन्तु इसका एक अर्थ ओर भी है जो 'तीर्थ' शब्द की मूलधातु 'तॄ' के प्रकृत अर्थ को ध्यान मे रखकर संस्कृत-साहित्य मे

किया गया है। इसके अनुसार तीर्थ एक घाट है, एक मार्ग है जिसके द्वारा भव-सरिता को जीव पार कर सकता है। इसी मार्ग को दिखलाने वाले तीर्थङ्कर है, और इस मार्ग पर चलने के लिये समाज को चतुर्विध सङ्घ के रूप मे सगठित किया, अत. वाह्य सामाजिक दृष्टि से यह चतुर्विध सङ्घ ही वस्तुत. उस तीर्थ या मार्ग का स्थूलतम रूप है। परन्तु इसमे सदेह नही कि इस स्थूल तीर्थ का सूक्ष्मरूप और चरमलक्ष्य वह आध्यात्मिक तीर्थ या मार्ग ही था जिसके द्वारा उस आध्यात्मिक सिद्धि को प्राप्त किया जा सकता था जिसका प्रतीक सहस्रदलकमल है। इसी मार्ग को जानने वाले 'गातुविद' तथा बनाने वाले 'पथिकृत' नाम से वेदो मे आये है। इसी मार्ग को ससार के लिये प्रकट करने के कारण ऋषभदेव आदि महापुरुष 'तीर्थङ्कर' नाम से अभिहित हुये। अत तीर्थङ्कर और सहस्रदलकमल का स्वाभाविक सबन्ध है।

काव्य की दृष्टि से, यह स्तवन वस्तुत एक चित्रकाव्य है जो साहित्यशास्त्र मे एक अधम काव्य माना गया। परतु इसमे सन्देह नही कि चित्रकाव्य की रचना मे छन्दशास्त्र, व्याकरण, निर्वचन तथा कोष आदि पर पूर्ण आधिपत्य होना आवश्यक है। यही कारण है कि इस प्रकार की रचनाएँ साहित्य मे नही के बराबर है। श्रीवल्लभ उपाध्याय ने भी अपने ग्रथ की रचना मे ऐसे ही पाण्डित्य का परिचय दिया है, जैसा कि परिशिष्ट घ से स्पष्ट है। इतने सीमित काव्य मे सहस्र रकारों का प्रयोग इस पाण्डित्य से ही सभव हो सका। अत.

चाहे भावाभिव्यक्ति या रस-निष्पत्ति की दृष्टि से इसे उत्कृष्ट काव्य न माना जाय, परन्तु विचार-वदग्ध्य, रचना-कौशल तथा उक्ति-वैचित्र्यकी दृष्टि से प्रस्तुत काव्य एक सर्वोत्कृष्ट चित्रकाव्य है और जो पण्डित काव्य-प्रेमी इस प्रकार के काव्यो मे निपुण और अभ्यस्त है उनके लिये एक उच्च-कोटि का मनोरजनकारी स्तवन है।

जो पाण्डित्य और पाटव लेखक ने रकारो के विविध प्रयोग मे दिखलाया है उसके कुछ उदाहरण देना यहाँ असगत न होगा। प्रथम दो छन्दो के रकार-गर्भित शब्दो को ही ले लीजिये —

असुरनिर्जरवन्धुरशेखर-प्रचुरभव्यरजोभिर पञ्जिरम् ।
क्रमरजं गिरसा सरस वर, जिन रमेश्वर! मेदुरशङ्कर ।।१।।
प्रवरवर्णरसागरचन्दिर–जठररागरसाविरसङ्गर! ।
मुचिरकृन्नरभीतरभद्रर! कुरु रम भर मामरहत्यर! ।।२।।

इन दोनो श्लोकोमे कुल ३२ रकार है। इनमे आमरहत्यर, चन्दिर आदि शब्दो को रकार गर्भित करने के लिये जिस प्रतिभा और पाण्डित्य की आवश्यकता थी वह उनकी स्वोपज्ञवृत्ति से भलीभाति प्रगट है। इस सम्बन्ध मे विशेष विवेचन अरजिनस्तव-वृत्ति प्रकरण मे आगे करेगे।

श्रीवल्लभ ने अपनी इस पुस्तक मे जिस पाण्डित्य का परिचय दिया है, वह केवल उनही तक सीमित नही थी। उनकी गुरु-परम्परा मे जैसा कि हम देखेगे बड़े-बड़े माने हुए विद्वान् उपाध्याय हुए, और इसमे सदेह नही कि ऐसी

ज्ञान-समृद्ध परम्परा मे जिसका व्यक्तित्व विकसित हुआ हो वह अपने कृतित्व और व्यक्तित्वके लिये उस परम्परा का सव से अधिक ऋणी होगा । इसीलिये कवि के परिचय से पूर्व ग्रन्थ के माहात्म्य की पृष्ठभूमि को समझने के लिये सर्वप्रथम गुरु-परम्परा को जान लेना आवश्यक है ।

गुरु–परम्परा

प्रस्तुत पुस्तक के रचयिता कवि श्रीवल्लभ वाचनाचार्य उपाध्याय श्रीज्ञानविमल गणि के शिष्य थे । आपकी गुरु–परम्परा वहुत ही उच्चकोटि के विद्वानो तथा गीतार्थो से अलकृत रही है, जैसा कि आपने अपनी टीका ग्रन्थो की प्रशस्तियो मे दिखलाया है —

गुशुभिरे जिनराजमुनीश्वरा', खरतराह्वगणाभ्रदिवाकरा ।
तदनु भूरिगुणा जयसागरा, जगति रेजुरनुत्तमपाठका. ।।७।।
तेषा शिख्या मुख्या दक्षा आसन्नदूष्यगुणलक्षा ।
श्रीरत्नचन्द्रनामोपाध्याया साधुपरिधाया ।।८।।
तत्पट्टस्फुटपद्मप्रकाशनोदारसूरसङ्काशा ।
श्रीभक्तिलाभनामोपाध्याया शास्त्रकर्त्तार ।।९।।
धीमन्तोऽन्तिषदस्तेषा कलाकौशलपेशला ।
समजायन्त राजन्तौ ग्रन्थार्थाम्भोधिपारगा ।।१०।।
चारित्रसारपाठक–भावाकर–सद्गणीश्वरा दक्षा ।
श्रीचारित्रचन्द्रवाचकधुर्या स्मार्या मुनीशानाम् ।।११।।
तेपा क्रमश पट्टव्योमाङ्गणशीतरश्मिसङ्काशा ।
श्रीभानुमेरुवाचक–जीवकलश–कनककलशाह्वा. ।।१२।।

तत्र चारित्रसाराख्या उपाध्यायाः महाशयाः ।
बभूवुः श्रुतपाथोधिपारीणाः साधुवृत्तयः ॥१३॥

तत्पट्टे समभूवन् विलसत्संवेगरङ्गसल्लीनाः ।
वाचकपदप्रधाना श्रीमन्तो भानुमेर्वाह्वा ॥१४॥

सौभाग्यौघ निविडजडतां व्यञ्जयत्यन्तयन्ती,
यद्वक्त्राम्भोरुहसु वसतिं प्राप्य गौर्लालसीति ।
गम्भीरा ये बृहदुदधय स्फूर्तिमन्तो महान्तो,
गाम्भीर्यादिप्रवितसुगुणैर्वर्ण्यलावण्यपुण्या. ॥१५॥

जयन्ति क्ष्मायां समयकथित ज्ञानविमला-
श्चिर चञ्चत्पाठकपदवरा ज्ञानविमलाः ।
लसत्तत्पट्टे वचनरचनारञ्जितजना,
महावादिव्राजप्रमितिकथनावाप्तविजयाः ॥१६॥

वैराग्यरससंल्लीना तद्गुरुभ्रातरोऽधुना ।
विजयन्ते महान्त श्रीतेजोरङ्गगणीश्वरा ॥१७॥

तेषां जयन्ति जयिन. सुनया विनेया,
सद्भागधेयमतिमत्प्रतिवाद्यजेया ।
श्रीज्ञानसुन्दरसुधी–जयवल्लभाद्या,
वाग्देवताप्रतिमसत्प्रतिभाप्रधाना. ॥१८॥

श्रीज्ञानविमलपाठकसत्पादाम्भोजचञ्चरीकेण ।
श्रीवल्लभेन रचिता शिलोञ्छशास्त्रे शुभा टीका ॥१९॥

शीलोञ्छनाममालावृत्ति–प्रशस्ति ।

*　　　*　　　*

राजच्छ्रीजिनराजसूरिगुरवोऽभूवन् पुरा भूतले,
विख्यातामलकीर्त्तिपूरितचतुर्दिङ्मण्डला सर्वदा ।
मानोन्मत्तवदावदप्रवरधीवाद्योघदुर्दन्तिना,
सिंहध्वाननिभा प्रणागनविधौ लब्धप्रतिष्ठोच्चया ॥७॥

तत्पट्टे विबुधार्चिताङ्घ्रिकमलाद्ब्राह्म्याप्तचञ्चद्वरा,
नानाशास्त्रपवित्रवृत्तिरचनाविख्यातसद्बुद्धय ।
रेजुस्ते जगतीतले वरगुणाजीवावतारा इवो-
पाध्याया जयसागरा सुयशस सत्पात्रशोभावहा ॥८॥

तत्पट्टोदयशैलबालविलसत्सूर्योदया पाठका,
आसन् वाग्जितदेवसूरिकवय. श्रीरत्नचन्द्राह्वया ।
तेषामन्तिषदो दिदीपिर इह क्ष्मायास्तले पाठका,
नानाशास्त्रकृतोवदातयशस श्रीभक्तिलाभाह्वया. ॥९॥

चारित्रसार–भावाकर–चारुशुद्धांशुनामका शिष्या ।
पाठक–गणीश–वाचकमुख्यास्तेषामजायन्त ॥१०॥
श्रीभानुमेरुवाचक–जीवकलश–कनककलशनामान. ।
समजायन्त महान्तस्तेषा पट्टे क्रमेणैते ॥११॥

श्रीभक्तिलाभपाठकशिष्याश्चारित्रसारनामान ।
वेदेन्दुसङ्ख्याविद्यापारीणा पाठका आसन् ॥१२॥

सिद्धान्तानुगतक्रियालयलसत्सम्प्राप्तशोभोदया,
दुर्मिथ्यात्वमतोत्कटोत्पलवनव्याघातसूर्योदया ।
तत्पट्टे विलसज्जगज्जनितमुच्चारित्रलक्ष्मीधरा,
श्रीमद्वाचक भानुमेरुगुरवो धात्र्या विरेजुश्चिरम् ॥१३॥

वेदग्रन्थविदन्यशास्त्रजडधीर्नारायणोऽय पुन–
विज्ञायेति सरस्वती भगवती सम्यग्गुणान्वेषिणी ।
सार्द्धं यन्मुखपङ्कजेऽखिलगुणे: कि लालसीति वसत्,
तर्क-व्याकरणाद्यनेककठिनग्रन्थावलीपाठका ॥१४॥

जगन्द्वन्द्यास्तेजोपति हि सतत पाठकवरा,
इदानी तच्छिष्या मुनिवरगुणा ज्ञानविमला: ।
यश शीतज्योतिर्धवलितलसत्क्षोणिवलया ,
स्फुरत्तेज'पुञ्जग्रहपुषमुष. पुण्यवपुष. ॥१५॥

युग्मम् ।

तत्सतीर्थ्या विराजन्ते तेजोरङ्गगणीश्वरा. ।
साम्प्रत स्थविरा नित्य तपोजपपरायणा ॥१६॥

श्रीज्ञानसुन्दरसुधी-जयवल्लभाद्या,
शिष्या जयन्ति च भुविप्रथितावदाता ।
विद्वत्तमा वरगुणा: सुवचस्विनश्च,
तेषा स्फुरद्गुणमणिप्रवरोदधीनाम् ॥१७॥

तेषां विख्यातकीर्त्तीना गुरुणामन्तिषदाणुना ।
कृता श्रीवल्लभेनेय शेषसडग्रहदीपिका ॥१८॥

शेषसडग्रहदीपिका-प्रशस्ति: ।

* * *

इन प्रशस्तियो के आधार पर यदि इनका वशवृक्ष बनाया जाय तो इस प्रकार होगा––

- जिनराजसूरि
  - उपाध्याय जयसागर
    - रत्नचन्द्रोपाध्याय
      - भक्तिलाभोपाध्याय
        - चारित्रसारोपाध्याय
          - भानुमेरुउपाध्याय
            - ज्ञानविमलोपाध्याय
              - श्रीवल्लभोपाध्याय
              - ज्ञानसुन्दर
              - जयवल्लभ
            - तेजोरङ्गगणि
          - जीवकलश
          - कनककलश
        - भावसागरगणि
        - चारुचन्द्र वाचक
    - मेघराज[1]
    - सोमकुञ्जर
    - सत्यरुचि

यहा पर सक्षेप मे इन मनीषियों का परिचय देना असङ्गत न होगा। अत प्रत्येक के विषय मे कुछ शब्द लिखे जा रहे हैं --

---

१ मेघराज, सोमकुजर और सत्यरुचि ये तीनो नाम 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' के आधार पर।

जिनराजसूरि

युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अनुसार श्रमण भगवान महावीर की पट्ट-परम्परा मे जिनराजसूरिजी ५४ वे पट्ट पर हुए है। आपकी जीवनी के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञात नही होता। स १४३३ फाल्गुन कृष्णा षष्ठी के दिवस अणहिलपुर (पाटण) मे श्रीलोकहिताचार्य[1] ने इन्हे आचार्य-पद प्रदान कर जिनोदयसूरि का पट्टधर घोषित किया। पट्टाभिषेक का पद-महोत्सव सा धरणा ने किया था। आपने अपने कर-कमलो से सुवर्णप्रभ, भुवनरत्न और सागरचन्द्र[2] इन तीन मनीषियों को आचार्य-पद प्रदान किया था। आपने सं १४४४मे चितोडगढ पर आदिनाथ मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी। स. १४६१मे देवकुलपाटक (देलवाडा) मे आपका स्वर्गवास

---

१ —आपको जिनोदयसूरि ने आचार्य-पद प्रदान किया था।

२ —सागरचन्द्राचार्य ने, जेसलमेर के चिन्तामणि पार्श्वनाथ के मदिर मे श्रीजिनराजसूरि के आदेश से, म १४५९मे जिन विम्वकी स्थापना की थी —

"नवेषुवार्धीन्दुमितेथ (१४५९) वत्सरे, निदेशत श्रीजिनराजसूरे।
अस्थापयन् गर्भगृहेत्र विम्ब, मुनीश्वरा सागरचन्द्रसारा ॥२१॥"

जेसलमेर का तत्कालीन राजा लक्ष्मणदेव राउल सागरचन्द्राचार्य का वहुत कुछ प्रशसक और भक्त था, जैसा कि निम्नलिखित पद्य से जाना जाता है —

"गाम्भीर्यवत्वात्परमोदकत्वाद्दधार य. सागरचन्द्रलक्ष्मीम्।
युक्त म भेजे तदिदं कृतज्ञ सूरीश्वरान् सागरचन्द्रपादान्॥१४॥
(वि० त्रि० प्र०)

आपकी रचित नारचन्द्रटिप्पन प्राप्त है।

हुआ था। भक्तिवश आराधनार्थ देलवाडा के सा नान्हाक श्रावक ने आपकी मूर्ति वनवाकर उनके पट्टधर श्रीजिनवर्धनसूरि से प्रतिष्ठा करवाई थी, जो आज भी देलवाडा मे विद्यमान है। इस मूर्ति पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है --

"स १४६६ वर्षे माघ सुदि ६ दिने ऊकेशवशे सा० सोपा सन्ताने सा० सुहडापुत्रेण सा० नान्हाकेन पुत्र वीरमादिपरिवारयुतेन श्रीजिनराजसूरिमूर्ति कारिता प्रतिष्ठिता श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनवर्द्धन-सूरिभि ।"

आपके करकमलो से प्रतिष्ठित मूर्तियाँ आज भी अनेक नगरो मे वडी सख्या मे प्राप्त होती है।

उपाध्याय जयसागर

अर्वुदगिरि (आवु) खरतरवसही (चौमुखजी का मन्दिर)के लेखो से ज्ञात होता है कि आप ओसवाल वंश के दरडागोत्रीय थे। आपकी माता का नाम सोखू था और पिता का नाम था आसराज। आपके भाई श्री मण्डलिक ने[1] प्रस्तुत खरतरवसही (जिनालय) वनवाकर, स.१५१५ आषाढ कृष्णा प्रतिपदा को जिनभद्रसूरिके पट्टधर जिनचन्द्रसूरि से प्रतिष्ठा कराई। ओसवाल दरडागोत्रीय होने से आप राज-स्थान के निवासी हो यह अधिक सम्भव है। किन्तु यह

---

१ आबू खरतरवसही के लेखो मे मण्डलिक को 'श्री जयसागर-महोपाध्यायवान्ववेन' लिखा है जो अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण उल्लेख है।

ज्ञात नही कि कब और किस स्थान पर जन्म हुआ और कब दीक्षा ग्रहण की । आपने स १५०३ मे प्रह्लादनपुर (पालनपुर) मे शिष्य सत्यरुचि की अभ्यर्थना और शिष्य गणि रत्नचन्द्र की सहायता से पृथ्वीचन्द्रचरित्र नामक कथानक काव्य की सृष्टि की; जिसकी प्रशस्ति से कुछ उल्लेख अवश्य प्राप्त होते हैं --

तत्पट्टशाड्वलवृक्ष , स्थलकौस्तुभसन्निभ ।
श्रीजिनराजसूरीन्द्रो, योऽभूद्दीक्षागुरुर्मम ॥३॥

तदनु च श्रीजिनवर्धनसूरि श्रीमानुदैदुदारमना ।
लक्षणसाहित्यादिग्रन्थेषु गुरुर्मम प्रथित ॥४॥

श्रीजिनभद्रमुनीन्द्रा , खरतरगणगगनपूर्णचन्द्रमस ।
ते चोपाध्यायपदप्रदानतो मे परमपूज्याः ॥५॥

श्रीजयसागरगणिना तेन मया वाचकेन शुचिवाच्यम् ।
पृथ्वीचन्द्रचरित्र विरचितमुचितप्रविस्तारम् ॥६॥

प्रह्लादनपुरनगरे त्रिविन्दुतिथिवत्सरे कृतो ग्रन्थः ।
माल्हाश्रावकवसतौ समाधिसन्तोषयोगेन ॥७॥

अभ्यर्थनया सत्यरुचेर्बभूव, साहाय्यकारी गणि-रत्नचन्द्र ।
उपक्रमोऽय फलवान् ममाभूत्, क्रिया हि साहायक-
सव्यपेक्षया ॥८॥

आपके दीक्षागुरु थे जिनराजसूरि, और विद्यागुरु थे जिनवर्धनसूरि, जो जिनराजसूरि के ही पट्टधर थे । आपको उपाध्याय पद श्री जिनभद्रसूरि ने प्रदान किया था । जिनराजसूरि के करकमलो से निष्पादित आचार्य सागरचन्द्र ने

जिनराजसूरि के पट्टधर आचार्य जिनवर्धन को, जिन पर देवीका प्रकोप हो गया था, गच्छ की उन्नति के निमित्त पट्ट से उतारकर स. १४७५ मे जिनभद्रसूरि को स्थापित किया था । जिन जिनवर्धनसूरिजी ने खरतर गच्छ की पिप्पलक शाखाका प्रादुर्भाव हुआ था, उनके पक्ष से हटाकर अपने पक्ष मे लेने के लिये सभवत स १४७५ मे इनको उपाध्याय पद दिया होगा, क्योकि स १४७८ मे स्वप्रणीत 'पर्वरत्नावली'[1] मे जयसागरजी ने स्वय अपने को उपाध्याय पद से व्यक्त किया है ।

आचार्य जिनभद्रसूरि ने जो ग्रन्थोद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया था उसमे उ जयसागरजी का सहायकरूप से पूर्ण सहयोग था । आपने भी अपने उपदेशो से बहुत से ग्रन्थ लिखवाये, जो जेसलमेर, पाटण आदिके भण्डारो मे आज भी उपलब्ध है ।

आप साहित्य के उच्चकोटि के मर्मज्ञ थे । आपने कई मौलिक ग्रन्थो, टीकाओ एव स्तोत्रो की रचना की, जिसमे से कई तो काल-कवलित हो चुके है[2] और कई शोध के

---

१ श्रीखरतरगच्छेशा, श्री जिनराजसूरय ।
तच्छिष्य श्रीउपाध्याय किञ्चिज्ज्ञो जयसागर ॥
अपिच दिग्गजसप्तचतु सितद्युतिमिते परित परिवत्सरे ।
नगरपत्तनमेत्य समर्थिता, जयतु धर्मकथा जिनशासने ॥
(पर्व रत्नावली प्रशस्ति)

२ आपके स्तवन, स्तोत्रादि सग्रहकी कई प्रतिया अवलोकन में आई, परन्तु वे सभी अपूर्णरूप मे मिली है। १ जयचदजी भडार बीकानेर, २ पुण्यविजयजी सग्रह, ३ और मेरे सग्रहकी, ये तीनो प्रतिया समकालीन होने पर भी अपूर्ण मिली है।

अभाव मे अभी तक उपलब्ध नही हुए है। वर्तमान मे जो कुछ साहित्य उपलब्ध है उसकी तालिका निम्नलिखित है --

मौलिक रचना

१ पर्व रत्नावली कथा[१] (र स १४७८ पाटण)

२ विज्ञप्ति त्रिवेणी[२] (स १४८४ सिन्धुदेश मलिकवाहण-पुर से पाटण श्रीजिनभद्रसूरि को प्रेषित)

३ पृथ्वीचन्द्र चरित्र[३] (स १५०३ प्रह्लादनपुर, शि. सत्यरुचि के आग्रह से, माल्हा श्रावक की वसति (उपाश्रय) मे)

टीका-ग्रन्थ

४. सन्देहदोलावली लघुवृत्ति[४] (स १४९५, श्लो. १५५०, इसका प्रथमालेखन शि. सोमकुञ्जर ने किया था और सशोधन स्वय आ. जिनभद्रसूरि ने[५])

---

१ इसकी १६वी शतीकी लिखित एक प्रति मेरे सग्रहमे है।

२ जैन आत्मानद सभा भावनगर से प्रकाशित, मुनि जिनविजयजी द्वारा सम्पादित,

३ जयपुर खरतरगच्छ ज्ञानभण्डार मे प्राप्त।

४ प० हीरालाल हसराज जामनगर द्वारा प्रकाशित

५ देखिये,

जैनेन्द्रागमतत्त्ववेदिभिरभिप्रेतार्थकल्पद्रुभि,
सद्भि श्रीजिनभद्रसूरिभिरिय वृत्तिर्विशुद्धिकृता।

५. गुरुपारतन्त्र्य वृत्ति ६ उपसर्गहर स्तोत्र वृत्ति
७ भावारिवारणस्तोत्रवृत्ति[1] ८. रघुवंश सर्गाधिकार[2]
९. नेमिजिनस्तुति टीका[3]

भाषा–साहित्य

१०. जिनकुशलसूरि छन्द (स. १४८१ मलिकवाहणपुर)
११ वयरस्वामी रास पद्य ३६ (स १४८९ जूनागढ)
१२ गौतमरास पद्य १२
१३. नगरकोट महातीर्थ चैत्य परिपाटी ,, १७
१४. अष्टापद तीर्थ बावनी ,, ५३
१५. चौवीसी
१६ चैत्य परिपाटी ,, २१
१७. वीतराग वीनती ,, १५
१८. वीतराग स्तोत्र ,, १९
१९ शत्रुञ्जय आदिनाथ वीनती ,, १३
२० शान्तिनाथ वीनती (स. १५०३) ,, ११

तद्वत्तार्किकचक्रिभि श्रुतपथाध्वन्यैर्महावादिभि,
प्रामाण्य गमिता विचार्य च तपोरत्नै पुरा वाचकै ॥
सोमकुजर नामास्ति, विनेयो विनयी हि न ।
न्यधित प्रथमादर्शे, ग्रन्थमेनमनाकुल ॥
विक्रमत पचनवत्यधिकचतुर्दशशतेषु वर्षेसु ।
ग्रथितेय श्लोकैरिह, पचदशशतानि सार्द्धानि ॥

१ प० ही० ह० द्वारा प्रकाशित, २ तपागच्छ भडार जेसलमेर, पत्र ३
३ पाटणभडार पत्र ६

स्तोत्र-साहित्य

आपने अपने जीवन मे अनेक तीर्थयात्राएँ की थी, जिनका वर्णन 'विज्ञप्तित्रिवेणी' जैसे आलङ्कारिक ग्रन्थो मे पाया जाता है। आपकी शिष्य परम्परा भी विपुल थी, जिनमे उ० रत्नचन्द्र, प. मेघराज गणि, सोमकुञ्जर[१], स्थिरसयम, सत्यरुचि गणि, प मतिशील गणि, प हेमकुञ्जर, प समयकुञ्जर, कुलकेशरि, अजितकेशरी आदि मुख्य थे[२]।

उपाध्याय रत्नचन्द्र

उ० जयसागर प्रणीत 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' मे जिसकी रचना स १४८४ मे हुई थी, रत्नचन्द्र को 'क्षुल्लक[३]' पद से अभिहित किया है और आगे चलकर "रत्नचन्द्रक्षुल्लक चाधीयमानस्वाध्याय शब्दब्रह्मव्याकरणमधिजिगापयिषन्त·[४]" से ज्ञात होता है कि उपाध्यायजी स्वय इनको व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करवा रहे थे। इस क्षुल्लक (नवदीक्षित) विशेषण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि स. १४८४ के आस-पास ही आपकी दीक्षा हुई होगी। आपने क्रमश स्वशास्त्र और परशास्त्र का अध्ययन कर अच्छी विद्वता प्राप्त की। पृथ्वीचन्द्र चरित्र की प्रशस्ति के ८वे पद्य के अनुसार 'साहाय्यकारी गणिरत्नचन्द्र' से व्यक्त

---

१ आपकी प्रणीत 'खरतरगच्छपट्टावली प्राप्त है।

२ उपाध्यायजी के सम्बन्ध मे विशेष जानने के लिओ देखें— विज्ञप्ति त्रिवेणी की प्रस्तावना

३ देखें, विजप्ति त्रिवेणी पृ० १७

४ देखें, वि० त्रि० पृ० २१

होता है कि चरित्र की रचना मे आप अपने गुरु के सहायकारी थे और उस समय तक उन्हे 'गणि' पद भी प्राप्त हो चुका था। विशेष योग्यता प्राप्त करने पर तत्कालीन गणनायक श्रीजिनभद्रसूरि के पट्टधर आचार्य श्रीजिनचन्द्रसूरि ने आपको 'उपाध्याय' पद प्रदान किया था। पाटन वाडीपुर-पार्श्वनाथ मन्दिर के भण्डार मे स्थित सिद्धहेम-व्याकरण की लेखन प्रशस्ति[५] 'श्रीरत्नचन्द्रोपाध्यायाना' से स्पष्ट है कि स १५२१ के पूर्व ही आपको उपाध्याय पद प्राप्त हो गया था।

उ० भक्तिलाभ—भानुमेरु

उ० रत्नचन्द्र के शिष्य उपाध्याय भक्तिलाभ हुए। इनके सबध मे कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नही होते। आपके लिये स १५३२ मे प्राकृतव्याकरण लिखा गया था, जिसकी लेखन पुष्पिका[६] इस प्रकार है.—

"स १५३२ वर्षे श्रीजयसागरमहोपाध्याय-शिष्य-रत्नचन्द्रोपाध्यायराजानामुपदेशेन शिष्य-भक्ति-

---

५ "स० १५२१ वर्षे शीरोही वास्तव्य उकेशवशीय माल्हूगोत्रीय साह महसा भार्या सोनलदे पुत्र साह ईला सुश्रावकेण भ्रातृ सेला चापा पद्मा जिनदास प्रमुखपरिवारसहितेन श्रीखरतरगच्छे श्रीजयसागर-महोपाध्याय-शिष्य-श्रीरत्नचन्द्रोपाध्यायानामुपदेशेन श्रीसिद्धहैमलक्षणबृहद्-वृत्तिकक्षापट्टग्रन्थोलेखि॥"

देखे वि० त्रि० प्र० पृ० ७८

६ पाटण सघ के भण्डार में सुरक्षित है।

लाभाय [पठनार्थ] स्तम्भतीर्थवास्तव्य श्रीमालवशे फोफलियागोत्रे श्रे. वाछा भा. देल्हू पुत्र लाखाकेन भार्या लीलादे जागा जेसिघादिपरिवारेण स्वपुण्यार्थ लिखापितम् ॥"

इससे यह निश्चित है कि आपकी भी दीक्षा सं. १५३२ के पूर्व हो चुकी थी। आप भी उपाध्याय-पदधारी थे, जैसा कि उपाध्याय ज्ञानविमल द्वारा प्रणीत शब्द-प्रभेदवृत्ति प्रशस्ति के १५वे पद्य से ज्ञात होता है —

तच्छिष्या सकलाचलावलयसत्प्रख्यातकीर्त्युच्चया,
सिद्धान्तोदधिगाहनैकरसिका. कारुण्यपाथोधय ।
सद्भाग्योदयदीप्तपाठकपदश्रीराजिता रेजिरे,
दर्पिष्ठप्रतिवादिमानमथना श्रीभक्तिलाभाभिधा ॥१५॥

आपकी निम्नलिखित रचनाये अभी तक प्राप्त हुई है —

१ वालशिक्षा व्याकरण[1]
२. लघुजातक टीका (स. १५७१ वीकानेर)
३. कल्पान्तर्वाच्य[2]
४ वरकाणा पार्श्वनाथ स्तव

---

१ जेसलमेर सघ भडार, डा ५५ न १०८३ पत्र ८ अपूर्ण, जिसका प्रारभ इस प्रकार है —

प्रणम्य स्वगुरून् भक्त्या, ध्यात्वा देवी सरस्वतीम्।
हितार्थं भक्तिलाभेन, वालशिक्षा विधीयते॥

२ मेरे सग्रहमे

५ जीरावला पार्श्वनाथ स्तव
६ सीमन्धर स्तव[1] (सफलससार)
७ रोहिणी तप स्तव
८ जिनहसंसूरि गुरुगीतम्[2]

आपके दो प्रधान शिष्यो का उल्लेख मिलता है, प्रथम उपाध्याय चारित्रसार और दूसरे गणि चारुचन्द्र । प्रधान शिष्य उ चारित्रसार के सम्बन्ध मे कुछ भी उल्लेखनीय सामग्री प्राप्त नही है । केवल शब्दप्रभेदवृत्ति प्रशस्ति पद्य १६वे के आधार पर ही यह निश्चित है कि आप उपाध्याय पद धारक थे । यथा ––

सर्वप्राज्ञवराङ्कशेखरसदृग्वाक्सूरवाराग्रणी,
प्रागल्भ्यप्रवरास्तपो विधिपरा सद्बुद्ध्युदारागया ।
तेपामन्तिपदो बभूवुरजिता दृप्यत्प्रवादिव्रजै ,
श्रीमत्पाठकशेखरा मुनिवराश्चारित्रसाराह्वया ।।१६।।

द्वितीय शिष्य वाचक चारुचन्द्र के जीवन के सम्बन्ध मे तो सामग्री प्राप्त नही है, किन्तु आपकी निम्नलिखित रचनाये ज्ञात हुई है –

१ उत्तमकुमार चरित्र (१५७२ बीकानेर)
२ हरिवल चौपाई (स १५८१)
३ नन्दन मणियार सधि (स १५८७)
४ रतिसार केवली चतुष्पदी

---

१ प्रकाशित २ ऐ जै का स मे प्रकाशित

५ महावल मलयसुन्दरी रास
६. पञ्चतीर्थी स्तवन. (स १५९८)
७ भाषा विचार प्र० सावचूरि.
८ युगमन्धर गीत

आपके शिष्य वाचनाचार्य ज्ञानविमल के गुरुवर उपाध्याय भानुमेरु हुए । आश्चर्य है कि आपके शिष्य ज्ञानविमल और प्रशिष्य श्रीवल्लभ ने केवल श्रद्धापूर्ण स्तुत्यात्मक पद्यो के अतिरिक्त अपने साहित्य मे किञ्चित् भी उल्लेख नही किया । वे केवल स्तुति करते हुए कहते है——

वैराग्य प्रवल शमेऽतिविमल शास्त्रौघवार्ताद्भुता,
सिद्धान्तैकरुचिर्मनोरमतमा भव्योपकार· पर ।
चारित्र च जगत्यनुत्तरतर तत्पट्टशोभावहा,
येषा श्रीयुतभानुमेरुगुरवस्ते वाचका भ्रेजिरे ।।

आपकी किसी साहित्य सर्जना का भी पता नही चलता । आपके प्रधान दो शिष्य थे——एक वाचनाचार्य ज्ञानविमल और दूसरे थे तेजोरङ्ग गणि ।

वाचनाचार्य ज्ञानविमल

ज्ञानविमलजी की 'विमल' नन्दी एव स्वरचित शब्दप्रभेदवृत्ति (र स १६५४) को देखते हुए (यु श्रीजिनचन्द्रसूरि के नन्दिपत्र के अनुसार छट्ठी नन्दी 'विमल' है, तो) नन्दी क्रमानुसार सभव है कि आपकी दीक्षा १६१५ और १६१८ के मध्य मे हुई हो । आपके

शिष्य श्रीवल्लभ द्वारा रचित 'शिलोञ्छ व्याख्या' (र स १६५४) और स्वय रचित शब्दप्रभेदवृत्ति मे "श्रीज्ञानविमल-पाठक" पाठक पद को देखने से यह तो स्वत सिद्ध सा हो जाता है कि स १६५४ के पूर्व ही आप उपाध्याय पद मे अलङ्कृत हो चुके थे । आपको पाठक पद तत्कालीन गच्छ-नायक युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि ने ही दिया था ।

साहसाङ्कचरितकार[1] श्रीमहेश्वर कवि प्रणीत 'शब्दप्रभेद' नामक कोष पर आपने स १६५४ आषाढ शुक्ला द्वितीया को विक्रमनगर (बीकानेर) नरेश श्रीरायसिहजी के विजय राज्य मे ३७०० ग्रन्थाग्रन्थमय विस्तृत टीका पूर्ण की । इसमे उनके शिष्य श्रीवल्लभ का पूर्ण सहयोग भी था और इसका प्रथमादर्श आपके शिष्य श्रीज्ञानसुन्दर और जयवल्लभ ने लिखा था, जैसा कि प्रशस्ति से ज्ञात होता है –

अस्मदन्तिषदो गाढसाहाय्यात् सिद्धिमागता ।
विद्वच्छ्रीवल्लभाह्वस्य युक्तायुक्तविवेचिन ॥२०॥

* * *

प्रथमादर्शे लिखिताऽस्मच्छिष्य ज्ञानसुन्दराह्वेन ।
जयवल्लभगणिनाऽपि च विचारविज्ञेन भक्तेन ॥२३॥

---

[1] श्रीसाहसाङ्कचरितप्रमुखासु गद्यपद्यप्रबन्धरचनासु वितन्वतैव ।
व्युत्पत्तिमुज्ज्वलतमा परमा च शक्तिनुल्लासिता जगति येन सरस्वतीयम ॥

श्रीमद्विक्रमनगरे राजच्छ्रीराजसिंहनृपराज्ये ।
सल्लोकचक्रवाकप्रमोदसूर्योदये सम्यक् ॥२४॥
चतुराननवदनेन्द्रियरसवसुधासम्मिते लसद्वर्षे ।
श्रीमद्विक्रमनृपतोऽतिक्रान्तोऽतीव-कृतहर्षे ॥२५॥
शुभोपयोगे शुभयोगयुक्ते, वरे द्वितीयादिवसेतिशुद्धे ।
आषाढमासस्य विशुद्धपक्षे, पुष्यर्क्षसयुक्तगभस्तिवारे ॥२६॥

* * *

अस्यास्त्रीणि सहस्राण्यधिकानि सप्तभि. शतै ।
इत्येव प्रमितिर्ज्ञेया, श्लोकमानेन निश्चिता ॥२७॥

* * *

इस टीका को देखते हुए ज्ञात होता है कि पाठक जी की प्रतिभा विशाल थी । व्याकरण और कोष साहित्य पर तो उनका एकाधिपत्य सा नजर आता है । स्थान-स्थान पर प्राय: सभी व्याकरणों और अनेकार्थादि कोषो के उद्धरण प्रचुर-परिमाण मे दृष्टि गोचर होते है । शब्दप्रभेद के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण पद्य की भूमिका देखने से ही उनके वैयाकरणत्व का परिचय प्राप्त हो जायगा :—

"इह हि प्रेक्षापूर्वकारिणां महाकवीना ग्रन्थारम्भे यथाभीष्टदेवतासस्तवन-मभ्युदयनिदान तथैवोत्कृष्टप्रशब्दग्रहणं सकलमङ्गलनिदानमस्तीति स्वमनसि निधाय श्री मन्महेश्वर-कवय 'प्रशब्द' आदौ प्रयुञ्जत । उक्तञ्च —

प्रशब्दश्चाथ शब्दश्च, द्वावेतौ ब्रह्मण: पुरा ।
कण्ठ भित्त्वा विनिर्यातौ, तस्मात् मङ्गलवाचकौ ॥

इति । यथा च श्रीकात्यायनाचार्या· नित्ये शब्दार्थसम्बन्ध इति वक्तव्ये 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्ध.' इत्युक्तवन्त· । यथा श्रीपाणिन्याचार्या अपि पाणिनीयव्याकरणादौ आदैच् वृद्धि· इति वक्तव्ये वृद्धिशब्दमादौ प्रयुज्य 'वृद्धिरादैच्' इत्यभिहितवन्त । यथा कुमारा अपि वर्णसमाम्नाय सिद्ध इति वक्तव्ये कलापव्याकरणादौ 'सिद्धो वर्णसमाम्नाय' इति प्रयुक्तवन्त । यथा इन्द्रा इन्द्रव्याकरणादौ रूढेरनुक्ताना सिद्धि इति वक्तव्ये 'सिद्धिरनुक्ताना रूढे' इति रचितवन्त· । यथा श्रीहेमचन्द्राचार्या अपि सिद्धहेमचन्द्रव्याकरणादौ स्याद्वादात् सिद्धिरित्यभिधेये 'सिद्धि स्याद्वादात्' इति कथितवन्त । यथा श्रीहेमशब्दोपदेव विद्वासोऽपि मुग्धबोधव्याकरणादौ शब्दै शमिति वक्तव्ये 'श शब्दै' इति कृतिवन्त. । यथा श्रीशाकटायनाचार्या· स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तावादौ 'श्रीवीरममृत ज्योतिर्नत्वादि सर्ववेदसाम्' इति मङ्गलार्थ श्रीशब्दप्रयोग सन्दृब्धवन्त । यथा श्रीअनुभूतिस्वरूपाचार्या अपि सरस्वती प्रक्रिया ऋजुकुर्वाणा 'प्रणम्य परमात्मान' इति मङ्गलार्थ प्रशब्दप्रयोग धृतवन्तस्तथा धीमन्त· श्रीमहेश्वर कवयोऽपि शब्दप्रभेदनामा ग्रन्थादौ प्रशब्दलक्षण मङ्गल हृद्यवधार्य प्रशब्दप्रयोग न्यस्तवन्त इत्यवसेयम् ।

कवि – परिचय

उपाध्याय श्री वल्लभ कहाँ उत्पन्न हुए? किस सवत मे उनका जन्म हुआ? उनका बाल्यपन का क्या नाम था? उनके माता-पिता का क्या नाम था? उन्होने

कब दीक्षा ग्रहण की ? और कब उनका स्वर्गवास हुआ ? इत्यादि बातो का तो कुछ भी पता नही लगता। उनके ग्रन्थो एव तत्कालीन अन्य रचनाओ से इस सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात नही होता। किन्तु इनके मौलिक एवं टीका ग्रन्थो के अवलोकन करने से उपाध्याय जी के विषय मे जिन कुछ ज्ञातव्य बातो का पता चलता है, वे उपस्थित की जा रही है —

जन्मस्थान

अभिधान चिन्तामणि नाममाला की सारोद्धार नाम्नी टीका मे एव हैमलिङ्गानुशासनविवरण की दुर्गपदप्रबोधवृत्ति मे कई स्थलो पर शब्दों के पर्याय देते हुए 'इति भाषा' 'इति प्रसिद्धे' से जो प्रचलित प्रान्तीय शब्द प्रयुक्त किये है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे किस प्रान्त के निवासी थे। उदाहरण के लिये यहाँ कुछ शब्द दिये जाते है —

उद्योत = उजवाला, तावडा
मरीचिका = झाझूआ
पारिपार्श्वक = पासवाण
वर्षा = वरिखा
तत्काल = तिवारइज
कादम्बिनी = कलाइणि
जलकण = बाछट छूट
आह्वान = तेडण, बुलावण, निहुंतरा
विवाद = झखडा
अन्योन्यविरुद्धवचन = अण-मिलता वचन
पृष्ठमासादन = चाडी
असद्दोषारोपण = अणहुतो दोष
उच्चैर्घुष्ट = घोषणक
अशुभवचन = भूडा वचन
प्रलाप = झखण

हल्लीसक = घूमरी
वादित्रादि = वाजा, रवाव, खूटी, खीली, ढोल, वरघू, नफेरी, ढोलादिक वजावणरा डाडिया,
मनाक् स्मित = मुरकणउ
महतिहास = खड खड हसणो
स्वपक्षभय = ग्रासियारउ भय
लप्सिका = लापसी
अवपुजित = ऊकरडओ
उपालम्भ = ओलम्भओ
सस्तव = ओलखाण, पिछाण
भक्ष्यपिण्ड = कवा
कूर्पास = काचली
धान्यागार = कोठार
निचुलक = उतरणा, खाट, पछेवड़ी
भित्तिनिखातकीलक = घोडलओ, खूटा
शमीवृक्ष = खेजड़ी
शमीफल = सागरी
सन्दर्भ = गूथणउ
चुलुक = चलू
वस्त्र = लूगडा

इन शब्दो को देखने से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि कवि का जन्म एव वाल्यकाल राजस्थान प्रान्त मे ही व्यतीत हुआ है। राजस्थान प्रान्त मे विशेष कर उपरि उल्लिखित 'भुडावचन, ऊकरडओ, ओलभओ, कवा, काचली खेजडी, सागरी, लूगड़ा' आदि शब्दो को देखते हुए वे जोधपुर राज्य के ही निवासी हो, अधिक सभव है। यहाँ यह सभावना की जा सकती है कि दीक्षा के पश्चात् इनका जीवनकाल राजस्थान मे अधिक व्यतीत हुआ हो और वहा निरतर जन-सम्पर्क के कारण उनकी भाषा मे देशी शब्दो का प्रयोग अधिक हुआ हो, परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि जिन घरेलू शब्दो का व्यवहार उन्होने

किया है वे बाल्यपन के सस्कार के विना भापा मे नही आ सकते ।

दीक्षा

खरतरगच्छालङ्कार[1] आचार्यप्रवर श्रीजिनमाणिक्य-सूरि[2] के पट्टधर शाह अकब्बर द्वारा प्रदत्त युगप्रधान

---

१ इनका खरतरगच्छ का होना निम्नलिखित प्रमाणोसे सिद्ध है —

तत्रासीद् विबुधाग्रणीर्गणगुरुश्रीवर्द्धमानान्तिपद्,
सूरीन्द्र स जिनेश्वरो दशशताशीत्यामिते सवति ।
जित्वा श्रीअणहिल्लपत्तनपुरे दुर्वादिनो दुर्लभ –
क्ष्मापास्याद्विरुद वर खरतरेत्याख्य यक प्राप्तवान् ॥ २ ॥

अ चि ना वृ प्र.

श्रीमति खरतरगच्छे, स्वच्छेभूवन्नवाङ्गवृत्तिकरा ।
श्रीमदभयदेवाख्या, आचार्या लक्षगुणदक्षा " १ ॥

शी ना टी प्र

श्रीमत्खरतरगच्छे चक्रे यै सन्नवाङ्गवरवृत्ति ।
श्रीमन्तोभयदेवाचार्या ज्याया विरेजुस्ते ॥ १ ॥

गं म टी प्र

श्रीजिनेश्वरसूरीन्द्रैर्दिख्याति प्रापिते क्षितौ ।
गच्छे खरतरे स्वच्छे, वर्द्धमाने मुमुक्षुमि । १ ॥

दु प्र प्र

२ इनका स्मरण उपाध्याय श्रीवल्लभ ने कई स्थानो पर किया है —

खरतरगणजलधिसमुल्लासनरजनीपतिप्रकाराणाम् ।
नम्रानेकनराणा, श्रीजिनमाणिक्यसूरीणाम् । १ ॥

अ स्त वृ प्र

विरुदधारक आचार्य श्री जिनचन्द्रसूरि[1]ने अपने ५८ वर्ग

विख्यातप्रगणस्तेषा, पट्टक्रमेण सूरय ।
श्रीमच्छ्रीजिनमाणिक्याचार्या क्षमाया विरेजिरे ॥ ३ ॥

शी ना वृ प्र

श्रीजिनमाणिक्यसूरि का जन्म स १५४९ मे हुआ। पिता कूकड चोपडा गोत्रीय सघपति राउलदेव थे और माता थी रयणादेवी। स १५६० मे ११ वर्ष की अल्पायु मे उन्होने आचार्य जिनहससूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। स १५८२ माघ शुक्ल पञ्चमी को गच्छनायक जिन-हसंसूरि ने उन्हे आचार्य पद प्रदान किया। स १५९३ माघ शुक्ला प्रतिपदा गुरुवार को उन्होने विक्रमपुर (बीकानेर) के मत्री कर्मसिंह द्वारा निर्मापित नमिनाथ चैत्य की प्रतिष्ठा की। तत्कालीन गच्छ के साधुओ मे शिथिलाचार देखकर वे क्रियोद्धार का विचार कर रहे थे। इसीलिये वे देरावर मे 'दादा' की यात्रा करने गये और वहा से जेसलमेर आते हुए मार्ग मे ही स १६१२ आषाढ शुक्ला ५ को उनका स्वर्गवास हो गया था।

१ उनको श्रीवल्लभजी ने श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है —

एव सूरिपरम्परागत इह श्रेष्ठे गणे दीपिते,
स श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिसुगुरुश्चारित्रपावित्र्यभृत्।
तेज श्रीमदकब्बराभिधनृप श्रीपातिसाहिर्मुदा —
वादीद्यत्सु युगप्रधान इति सन्नाम्ना यथार्थेन वै ॥ ४ ॥

श्रीमन्त्रीश्वरकर्मचन्द्रविहितोद्यत्कोटिटङ्कव्यय,
श्रीनन्द्युत्सवपूर्वक युगवरा यस्मै ददौ स्व पदम्।
श्रीमल्लाभपुरे दयादृढमतिश्रीपातिसाह्याग्रहा —
न्नन्द्याच्छ्रीजिनचन्द्रसूरिसुगुरु सस्फीततेजोयशा ॥ ५ ॥

अ, चि ना वृ प्र

भव्या हस्ततिभूमिजौघदहनोद्यद्धव्यवाह शुभा –
नड्वाह सुखकारिसयमधुरावाहे सुपुण्यस्तुह ।
धर्मध्यानकल्पास्निह कुमतिना नाशे सदानुन्मुह,
कुर्यु श्रीजिनचन्द्रसूरिगुरव श्रीधर्मराज्य चिरम् ।।२।।
दु प प्र वृ प्र

युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि के माता-पिता वीसा ओसवाल श्रीवत और सियादे खेतसर (मारवाड) के निवासी थे। उनका जन्म स १५९५ मे हुआ था और बाल्यावस्था का नाम था सुलतान। आचार्य श्री जिनमणिक्यसूरि के उपदेश से प्रभावित होकर ९ वर्ष की अवस्था में उन्होने स १६०४ मे दीक्षा ग्रहण की और दीक्षा नाम रखा गया सुमतिधीर। स १६१२ भाद्रपद शुक्ला ९ गुरुवार को जेसलमेर के राउल श्रीमालदेव जी ने उत्सव करके बेगडगच्छ (खरतगच्छ की ही एक शाखा) के आचार्य गुणप्रभसूरि ने उन्हे आचार्यपद प्रदान कर तथा जिनचन्द्रसूरि नाम प्रख्यात कर गच्छनायक घोषित किया। स १६१४ चैत्र कृष्णा सप्तमी को प्रचलित शिथिलाचार को दूर करने के लिये उन्होने क्रियोद्धार किया। स १६१७ मे पाटण मे जिस समय तपगच्छीय उद्भट विद्वान कदाग्रही उ धर्मसागरजी ने गच्छविद्वेषो का सूत्रपात किया उस समय उनको आचार्यश्री ने शास्त्रार्थ के लिये आह्वान किया और उनके उपस्थित न होने पर अन्य तत्कालीन समग्र गच्छो के आचार्यो के समक्ष धर्मसागरजी को उत्सूत्रवादी घोषित किया था। सम्राट अकबर के आमत्रण से सूरिजी १६४८ फाल्गुन शुक्ला १२ के दिवस ३१ साधुओ के परिवार सहित लाहोर मे सम्राट से मिले और स्वकीय उपदेशो से प्रभावित कर उन्होने तीर्थो की रक्षा एव अहिंसा प्रचार के लिये कई फरमान प्राप्त किये थे और १६४९ फाल्गुन वदि १० के दिवस सम्राट के हाथ से ही युगप्रधान पद भी प्राप्त किया जिसका विशाल महोत्सव करोडो रुपये व्यय कर महामत्री कर्मचन्द्र वच्छावत ने किया था। स

विशद आचार्य काल में ४४--नन्दिओ[१] (नामान्तपदो) की स्थापना की थी। उसमे २६वी सख्या की नन्दि 'वल्लभ' नाम की है, जिस मे १६वी नन्दि 'सिह' की स्थापना स १६२३ मे हो चुकी थी। अत अनुमानत 'वल्लभ' नन्दि की स्थापना स १६३० एव १६४० के मध्यकाल मे हुई होगी। इस अनुमान का मुख्य कारण एक यह भी है कि श्रीवल्लभ ने शीलोञ्छनाममाला पर स १६५४ चैत्र कृष्णा सप्तमी को नागोर मे वृत्ति की रचना पूर्ण की। किसी भी ग्रन्थ पर लेखनी चलाने के लिये, विशेपकर व्याकरण एव कोप पर विशेष अध्ययन ओर योग्यता की अपेक्षा है। अत शीलोञ्छनाममाला जैसी पुस्तक पर वृत्ति रचने के लिये दीक्षा के पश्चात् १५-१८ वर्ष का समय तो उन्हे अवश्य ही तैयारी के लिये लगा होगा। यहाँ यह सभावना भी की जा सकती है कि दीक्षापूर्व ही वे सस्कृत साहित्य के विद्वान हो। पर प्राय जैन-समाज में देखने मे यह आता है कि

१६७० आश्विन कृष्णा द्वितीया को बिलाडा मे उनका स्वर्गवास हुआ था। स १६१७ विजयदसमी के दिवस पाटण मे आचार्य जिन वल्लभसूरि प्रणीत पौषधविधिप्रकरण पर ३५५४ श्लोक परिमाण की उन्होने विशद टीका की रचना की थी। विशेप परिचय के लिये देखे, श्रीअगरचन्द्र भँवरलाल नाहटा द्वारा लिखित "युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि"

१ देखे युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि का प्रथम परिशिष्ट

गार्हस्थ्य-जीवन मे रहे हुए इने-गिने ही सस्कृत-साहित्य के विद्वान प्राप्त होते है। हाँ, जैन धार्मिक साहित्य एव कर्म सम्वन्धी साहित्य के उच्चकोटि के मर्मज्ञ अवश्य मिलेगे। अत यह अनुमान उपयुक्तसा ही प्रतीत होता है कि युगप्रधान ने १६३० और १६४० के बीच मे आपको दीक्षा प्रदान कर श्रीवल्लभ नाम प्रदान किया हो।

श्रीवल्लभ-प्रतिभा-परिचय

श्रीवल्लभ की प्रतिभा वहुमुखी थी। उनमे अगाध पाडित्य था और था उनका सस्कृत एव प्राकृत साहित्य पर पूर्ण अधिकार। वैसे तो उन्होंने किन किन शास्त्रो का अध्ययन किया और किनके पास किया, ऐसा कही कोई उल्लेख नही मिलता, किन्तु आपकी गुरु 'पाठक' परम्परा एक विद्वत्परम्परा थी एव आपके गुरु स्वसाहित्य और पर-साहित्य के निष्णात थे। इसलिये यह अनुमान किया जा सकता है कि विद्याभ्यास आपने अपने श्रीगुरु-चरणो मे ही रहकर किया होगा।[२]

---

२ वेदग्रन्थविदन्यशास्त्रजडधीर्नारायणोय पुन –
विज्ञायेति सरस्वती भगवती सम्यग्गुणान्वेषिणी।
सार्द्ध यन्मुखपङ्कजेखिलगुणै किं लालसीति वसत्,
तर्कव्याकरणाद्यनेककठिनग्रन्थावली पाठका ॥ १४॥
(शे स. वृ प्र)

आपके टीका-ग्रन्थो के अवलोकन से यह भली भाति सिद्ध हो जाता है कि आप केवल जैन-साहित्य के ही विद्वान नही थे, अपितु समग्र सस्कृत साहित्य के जानकार थे। सस्कृत-साहित्य मे टीकाकारो की बहुलता रही है किन्तु इनके समान टीकाकार विरले ही हुए हैं। एक अभिधानचिन्तामणिनाममाला की टीका मे ही लगभग १७० ग्रन्थो के उद्धरण – वे भी एक दो नही – किन्तु सैकडो की सख्या मे देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आपने इन इन विषयो के निम्नलिखित ग्रन्थो का भली-भाति अवलोकन अवश्य ही किया था। उद्धृत व उल्लिखित ग्रन्थो की तालिका इस प्रकार है —

व्याकरण — सिद्धहेमशब्दानुशासन, बृहद्वृत्ति, लघुन्यास[१], न्यास[२], ढुण्ढिका[३], धातुपारायण (हेमचन्द्रीय), हैमलिङ्गानुशासन और स्वोपज्ञ टीका, प्राकृतव्याकरण (हेमचन्द्रीय) टीका सहित, देशीसूत्र टीका सहित[४],

---

१ निवृत्त्यर्थ इति द्वितीय ग श्रवण न स्यात् इति न वाच्यम्, स्वमेव हि भिद्यते न श्रुति, शब्दस्य श्रोत्रग्राह्यत्वात् इति, पूर्वन्यासापेक्ष इति, निवृत्तमिति लघुन्यास (अ २४,१)

२ गर्भिणी पुवद्भावे सप्तमाध्याय-चतुर्थपादवृत्तिपचाशत्तमसूत्रेण 'सयोगादिन' इत्यन्तालोपप्रतिषेध, गर्भवती स्त्रीवचनात्तु इकणोप्राप्तेरौत्सर्गिकवचनाण्, इति न्यासकार (अ १३०,१)

३ 'अणु' रालकादिधान्यविशेष, इति तद्धितढूढी। शम्बशब्द स्तिर्यगर्थ, इति तद्धितढूढी।

४ यद्देशीसूत्रे 'सिड्डोसलहपिशल्ला' इति, शलभ पिशाचश्च इति तट्टीका।

पाणिनीय व्याकरण, पाणिनीय शिक्षा, महाभाष्य[१], काशिकाकार[२], शाकटायन[३], सारस्वत, कविकल्पद्रुम (वोपदेवीय), कृष्ण पण्डित कृत प्रक्रिया कौमुदी वृत्ति, माधवभट्ट, उज्ज्वलदत्त[४], गणरत्नमहोदधि टीका सह, न्यायमञ्जूषा टीका सह, दुर्गलिङ्गानुशासनवृत्ति[५], चन्द्राचार्य[६], श्रीकण्ठपुरुषोत्तमदेवादय:[७] आदि ।

कोष — अमरकोष टीका सहित, क्षीरस्वामी (अमरकोष टीका-कार), अभिधान चिन्तामणि नाममाला टीका सहित, अनेकार्थ सग्रह (हेमचन्द्रीय) टीका सहित, श्रीजिन-भद्रसूरिपादा: (अपवर्ग नाममाला), अमरमाला[८],

---

१ प्रसवयोगिता पुस्त्व, मस्त्यानयोगिता स्त्रीत्व, स्थितायोगिता नपुसकत्व इति शाब्दिकाना स्थिति । इति महाभाष्यवचनात् । (दु०प० १३३), उक्त भाष्यकारेण-भिक्षादिषु — (अ १३०,१)

२ काशिकाकार —युवतिशब्दोत्र न पठचते। तस्य ग्रहण-सामर्थ्यात् पुवद्भावो न भवति। (अ १३०,१)

३ जोषमास्ते जोषमिति शाकटायन । (अ १४२ २)

४ यदुज्ज्वलदत्त —कृदीति ङीषि श्रीयमित्यपि भवतीति दुर्घटे रक्षित, इति (अ १६,१)

५ कृतयुग त्रेतायुग द्वापरयुग कलियुग चत्वारि नपुसके इति दुर्गलि-ङ्गानुशासनवृत्तौ। (दु प २७)

६ युवतिशब्दसम्बन्धिनस्तवर्गप्रथमस्य तृतीयस्वरलोपे योवत चन्द्रा-चार्याभिप्रायेण। (अ १३०, १)

७ स्त्रीजातिविशेषवाचीशब्दस्तस्माद्दूङ इति श्रीकण्ठपुरुषोत्तमदेवादय (अ ३८, १)

८ र्वाहिरुत्य इति अमरमाला

कात्य [१], गौड [२], देशीनाममाला [३] टीका सहित, धनपाल [४] ध्वनिमञ्जरी (एकाक्षरी नाममाला) निघण्टुशेषनाममाला [५] (हेमचन्द्रीय) टीका सहित, पुरुषोत्तमदेव [६], भागुरि [७], महेश्वर ( )

---

१ यत्कात्य — अमान्याद्याश्च पौराश्च, सद्भि प्रकृतय स्मृता। (अ ६०–१), कात्यस्तु — प्रच्छन्नमन्तर्द्वार यत्पक्षद्वार तदुच्यते। (अ ६१–२)

२ गौडस्तु — मुक्ताशुद्धौ पुमास्तारो, ननान्दृक्षक्षिमव्ययो। (अ ८६–१), यद्गौड — स्त्रीनपुसकयो क्रोडा-वक्षसि स्यात् किरौ पुमान्। क्रोडे पीनपयोधरे मृगदृश क क्रीडितु नेच्छति। (अ ४१–१) आदि

३ यद्देशी — मादिषु शब्देषु अनेकार्थेषु मड्डा बलकार आणासु मड्डा बलात्कार आज्ञा च इति तटीका — एकार्थेषु पदेषु बलकारम्मि पिणाओ इति। (अ ६०–२)

४ धनपाल यदाह — क्रव्यादायातवो यातुधान, इति (अ १४–१), धनपालस्तु — आसदी विष्टर पीठमासनमिति। (अ ५७–२)

५ पटोले तु पाण्डुफल, कुलक कर्कशच्छद। राजीफल कफहरो, राजमान्योऽमृताफला। इति हेमनिघण्टुशेष।

६ कूर्पासकस्त्वर्द्धचोलक, इति पुरुषोत्तमदेव। (अ ५६–२), यदाह–पुरुषोत्तमदेव — प्रेतादिभिर्गृहीतो य, स आविष्टो भ्रमत् वहिरिति। (अ.३७–१)

७ भागुरिस्तु — कुकुदरी समाख्याते, जनो जघनकूपकौ, इति (अ ४१–२)

टीका सहित, मालाकार[१], लिङ्गयसूरि[२], व्याडि.[३], विश्व, विश्वशम्भु (एकाक्षरी नाममाला), वाचस्पति, वैजयन्ती, शाश्वत[४], श्रीधर टीका सहित, श्रीभोज[५], शेषसग्रह (हेमचन्द्रीय), सुधाकलग (एकाक्षरी नाममाला) सौभरि (एकाक्षरी नाममाला), हलायुध टीका सह, हारावली आदि.

लक्षण — काव्यादर्श, काव्यशिक्षा, भानुदत्त (रसतरङ्गिणी) विदग्धमुखमण्डन,

छन्द — छन्दोनुशासन, छन्दश्चूडामणि[६], वृत्तरत्नाकर,

---

१ मालाकारस्तु — मृत्वत्सा स्रवद्गर्भा, इति (अ ११५-२), मालाकारस्तु — चुण्ढी विवरोत्साश्च कूपका, इति । (अ ९८–१)

२ श्रीलिडयसूरिस्तु — धातकीपुष्पमिश्रगुडसहितधान्याम्बुकृतमद्यनाम-मैरेय, पक्वेक्षुरसकृतमद्यनाम शीधु, अपक्वेक्षुरसकृतमद्यनाम आसव, इति त्रीण्यपि भिन्नति। (अ ८१–१), लाजादिकरणार्थ कृतस्य घटकपालस्य नाम्नी, इति लिडयसूरि । (अ ९१–१), आदि

३ यद्व्याडि — जन पितृसधर्मा य सन्तानार्हो मनोजव । (अ ३७–१)

४ सन्धिन्यकालदुग्धागौर्वृषाक्रान्ता च सन्धिनि, इति शाश्वत (अ ११५–२)

५ द्युर्दिनम् इति श्रीभोज.। (शी ५४–१)

६ केकिरवच्छन्द, तल्लक्षण चेद — स्यौ स्यौ केकिरवम्। (अ ६७-१) दुर्भाग्य है कि आचार्य हेमचन्द्र का यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

काव्य — रघुवंश, कुमारसंभव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध टीका सहित, नैषध चरित टीका सहित, नरहरि[१] (नैषधटीकाकार), मेघदूत टीका सहित, द्व्याश्रय काव्य (हेमचन्द्रीय) टीका सहित (टी अभयतिलकोपाध्याय), महाभारत[२], हलायुध काव्य टीका सहित, रूपनाथवीय[३], भट्टि., गीतगोविन्द, आदिनाथ चरित्र (हेमचन्द्रीय), नेमिनाथ चरित्र (हेमचन्द्रीय), चम्पू[४], त्रिशतीकार[५], सौन्दर्यलहरी, महिम्नस्तोत्र[६] टीका सहित, वोपालित[७], आदि

---

१ सन्दैर्नृरितरक्षुपन्नग, इति दृर्प, तरक्षवञ्चित्रमृगा पन्नगा — मपाञ्च यत्र तम्। इति नरहरि (११७-१), उद्भिदास्तु गुल्माद्या इति नरहरि (अ १२४-१)।

२ यद्भारतम् — पत्त्यङ्गैस्त्रिगुणै सर्वै, क्रमादाख्या यथोत्तरम्। सेनामुख गुल्मगणो, वाहिनी पृतना चमू । अनीकिनीदशगुणामाहुरक्षौहिणी बुधा । इति (दु ३७)

३ तथा रूपमाधवीये — स्वरि कमपि न चाल रूपलावण्यभाजो, वपुष उरुकाव्यगाढ्यनीयते दृश्यते वा। इति

४ ससौगन्धिकप्रसारा विराजन्ते अन्तर्विपणयो वहिश्च सलिलाश्रया इति चम्पूगद्यम् (अ १०५-१)

५ यथा च त्रिशतीकार — पञ्चाहतैश्चतुर्भिर्वराटकै काकणी चैकिनी (अ १३७-२)

६ धनुष्पाणेर्यान्दिवयभिसपत्नाकृतममु' इति महिम्नस्तोत्र। किंविध अमु? 'सपत्राकृत' पत्र सह वर्तमानेन शरेण शरीरे अन्त प्रविश्य उत्पादितमहाव्यथमित्यर्थ । इति तट्टीका (अ १२६-१)

७ वातप्रमी समीरमृग, इति वोपालित (अ ११८-२)

नाटक — मुरारि (अनर्घराघव), हनुमन्नाटक[1],

नाट्य — भरतनाट्यशास्त्र, रूपावतार[2],

सङ्गीत — सङ्गीत रत्नावली[3], रङ्गोदय[4], त्रिविक्रम[5]

शकुन — वसन्तराज[6],

कामशास्त्र — कामशास्त्र[7],

---

७ समन्ताद्वृत्तानै सुरसहचरीचामरमरु — त्तरङ्गैरुन्मीलद्भुज-परिघसौरभ्यशुचिना। इति हनुमान् (अ ९९–१)

८ रूपावतारे इति रूपावतारनाम्नि ग्रन्थे (दु ७१)

९ यदाह सङ्गीतरत्नावलीकार — ततो वीणादिके वीणा, पिनाकी किन्नरीमुखा । पिनाकी साधनस्तुम्बा, किन्नरी द्वित्रितुम्बिका । इति (शी २४-२)

१० तथा च रङ्गोदय — सार्द्धहस्तत्रय मान, भेरीणा समुदाहृतम् । पिण्डे षडङ्गुला प्रोक्ता, वादयेन् मुखफुड्कयो । ११।। भ्रेरिरे भ्रङ्गिरे भुङ्गतुङ्गेग्रिरे, ध्रङ्गिरे ग्रङ्गिरे ग्रङ्गिने भुभुसे । पञ्चतालेषु भेरी बुधै प्रोच्यते, सा महावाद्ययुक्ता जनैर्वाद्यते । (अ २०–१)

११ यदाह — निषाद काकलीसञ्ज्ञो द्विश्रुत्युत्कर्षणाद् भवेत् । शुष्काङ्गी घनचार्वाङ्गचा, सुग्राच्च काकलीस्वरा । इति त्रिविक्रम (अ १२९-१)

१२ यद्वसन्तराजस्तृतीयवर्गादौ — पोदकी सपणकाकपिङ्गला जम्बुक प्रियतमा च पञ्चमी, इति (दु २५)

१३ कामशास्त्रोक्तलक्षणे नरभेदे यथा — शशो वृषोश्व, इति लिङ्गतो नायकभेदा । इति (दु ९७)

नीति -- कौटिल्य[१] (अर्थशास्त्र), जय[२], मुनि[३], चाणक्य (चाणिक्यनीति)

सामुद्रिकशास्त्र[४],

धनुर्वेद --- धनुर्वेद[५],

---

१ यत्कौटिल्य -- ये द्रव्यहताोन्मल हस्तिन चापि योधयेयुस्ते तीक्ष्णा, (दु ९७), यत्कौटिल्य -- कर्मणामारम्भोपाय, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभाग, विनिपातप्रतीकार, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गो मन्त्र। (अ ६२ २), उद्धर्व हन्यते अनेन इति उद्घातन इति कौटिल्य। (अ ९८-२)

२ गजजय -- गुल्को घटे विनाहाय वराद् गाम्ये च वस्कनि इति (अ ६१-१)।

३ यन्मुनि -- युगद्वितीयप्रानङ्ग (६८-२), यन्मुनि -- अधियाङ्ग, मारतान इति (अ ६५-२), यन्मुनि -- विघसाशीभवे नित्य, नित्य चामृतभोजन। विघसो भुक्तशेष स्यात्, यज्ञशिष्टमथामृतम्। (अ ६३-१)

४ प ४१-२, प ५

५ यद् धनुर्वेद -- अग्रतो वामपाद तु, तीक्ष्ण चैवानुकुञ्चितम्। आलीढ तु प्रकर्त्तव्य, हस्तद्वयमविस्तरम्।।१। पादौ सविस्तरौ कार्यौ, समहस्तप्रमाणत। वैशाखस्थानके वत्स्य, कूटलक्षस्य वेधने।२। प्रत्यालीढे तु कर्त्तव्य, सव्यस्तीक्ष्णोनुकुञ्चित। तिर्यग्वाम पुरस्तत्र, दूरापाते विशिष्यते।३। समपादे सम पादौ निष्कम्पौ च सुसङ्गतौ। मण्डले मण्डलाकारौ, बाह्यतीक्ष्णौ विशेषत।४। (अ ६६-२)

वास्तुशास्त्र — वास्तुसुत[१], राजवल्लभमण्डन[२],

ज्योतिष — श्रीपति, वराहमिहिर, भास्कराचार्य:, खण्डखाद्य[३],

गणित — लीलावती,

वैद्यक — चरकसहिता, सुश्रुतसहिता, माधवनिदान, वाग्भट टीका सहित, मदनपाल, भोज[४], पथ्यापथ्यकार[५], आदि,

स्मृति — मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, वेदानुशासन[६],

---

१ तथा च वास्तुसुतनाम्निग्रन्थे — चतुष्कोणा तु या वेदी, स्थण्डिका सा सुखाप्तये। विवाहेष्टासने याज्ञे, राज्ञा देवार्चनादिषु ।१। इत्यादि (अ. ८९–२)

२ यदुक्त वास्तुशास्त्रे राजवल्लभमण्डने — गेहोदय तु विभजेन्नवधा पडग, स्तम्भोर्ध्वभागसजक भरण गिरञ्च। कुम्भी ह्युदुम्बर-रसहेकविभागतुल्या, पट्टञ्च तत्रि च युतोच समान एव ।१। (अ ९०–१)

३ विक्रमादित्यराज्यस्य, पञ्चत्रिशोत्तर गतम्। पातयित्वा भवेच्छाक चैत्रशुक्लादितस्तिथे ।१। इति गणितसार्गेण शुक्लपक्षस्य पूर्व प्राप्तत्वात् इति खण्डखाद्यकोक्ते (गी ८–२)

४ यदाह भोज — महान्त शोथमन्य वा, हनुमन्या गलाश्रयम्। लम्बन्त मुष्कवद् दृष्टवा, गलगण्ड विनिर्दिशेत्। इति (अ ३४–२)

५ महीलता किञ्चुलको, भूस्थो गण्डूपदपदोमत । इति पथ्यापथ्यकार· (अ १०८–२), अष्टापदो महाशृङ्गी शरभश्चतुरूर्ध्वपात्। उष्ट्रप्रमाणो द्विरदारातिश्चैव महामृग । इति पथ्यापथ्यकार: (अ. ११७–१) आदि

६ आत्मा वै जायते पुत्र, इति वेदानुशासने।

पुराण —— गरुडपुराण, नारदपुराण, पद्मपुराण, भविष्योत्तर-पुराण, विष्णुपुराण टीका सहित, हरिवंशपुराण, भागवत टीका सहित,

जैनागम साहित्य —— आवश्यकसूत्र[1], आवश्यकचूर्णि[2], आवश्यकसूत्र बृहद्वृत्ति[3] (हारिभद्रीय), आचाराङ्गसूत्र सवृत्तिक[4], सूत्रकृताङ्गसूत्र सवृत्तिक[5], समवायाङ्गसूत्र वृत्ति सहित[6], राजप्रश्नीयसूत्र आ मलयगिरि टीका सहित[7], प्रज्ञापनासूत्र वृत्ति सहित[8], उपदेशमाला कर्णिका टीका सहित[9], तत्त्वार्थसूत्र, तिलकाचार्य[10], शीलतरङ्गिणी[11] (शीलोपदेशमाला वृत्ति), भक्तामर आदि

---

१ अ ५८—२। २ गो ८९—१। ३ अ ५७—२। ४ अ ८२—२, ५ अ १५—२। ६ अ ६—२। ७ अ ५४—२। ८ अ १०९—१

९ यदुपदेशमालाकर्णिकाटीका —— नदा नस्मिन् पेतुश्च, त्रिन्दोर्मधुनि मज्जितः। आजगामाजिहीर्षुस्ता, कुडचमत्स्योऽथ सस्पृहः। त प्रत्ययोपदुद्राव, प्रतिसूर्यशयानकः। इति (अ ११८—२)

१० यदुक्त तिलकाचार्यैं —— उसभेत्यादि व्याख्याने ऊर्वो ऋषभलाञ्छनत्वात् मातुश्चतुर्दशस्वप्नेषु प्रथम ऋषभदर्शनाद्वा ऋषभ इति (अ ५—२), अथोत्थाय सखीना सा, प्रेक्ष्यालक्ष्य दिशोऽखिला। अदर्शयत् करागहृणहेला पश्यतर। इति तिलकाचार्य, (अ २३—१)। नवोऽथकुपित स्वाह्नी, कुशीमादाय भग्नवान्, इति तिलकाचार्य. (अ ९३—१)

११ कोपात् सम्मुखमायात, प्रसारितरय करात्। हाहारवपरै लोकै, पेचके हतवान् द्विपम्। इति शीलतरङ्गिणी (अ. ११—१)

इन ग्रन्थों के नामोल्लेख तथा उद्धरणो के अतिरिक्त कई स्थलो पर "इति ऋग्वेदकाण्डे[1], इति श्रुति[2], इति स्मृति[3], इति आगम[4], इत्याचार्या[5], यल्लक्ष्यं[6], यद्वैद्या[7]," आदि कहकर उन्होंने प्रचुरमात्रा मे उद्धरण अपने टीका-ग्रथो मे दिये है ।

उपाध्याय पद

गणि, वाचनाचार्य और उपाध्याय पद उन्हे कब और किसके द्वारा प्राप्त हुये इसका कुछ भी पता नही है । इनकी सर्व प्रथम कृति शीलोञ्छनाममाला टीका (र स १६५४) मे

---

१ अ ७०—२

२ त्यागे मासि सूते वै, इति श्रुतेः (अ १८३—१) ।

३ नवमे दशमे वाऽपि प्रवलै सूतिमारुतैं । निस्सार्यते वाण इव, यन्त्र-छिद्रेण सज्ज्वर । इति स्मृतेश्च ॥ पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात्, पितर त्रायते सुत । तत पुत्र इति प्रोक्त, स्वयमेव स्वयम्भुवा । इति स्मृति (अ. ४३—१) ।

४ कर्पूरागुरुकस्तूरी कक्कोलैर्यक्षकर्दम । एतै पिण्डीकृतैर्यक्षप्रिय पङ्क सकुङ्कुमैरित्यागम । (अ ५२—२)। यदागम —अभिचरन् श्येनेन यजेत इति, (अ ७२—२) ।

५ अवेक्षणं अवेक्षा अवधान इत्यर्थ, इत्याचार्याश्च । अतिसर्जन समर्पणमित्यर्थ, इत्याचार्या (अ १४१—१) । यथा एकमेव वरपूमामुतराज्यमनाश्रम, इति हस्माहुराचार्या, (अ १४३—२)

६ यल्लक्ष्यम् — उपार्जितानामर्थाना, त्याग एव हि रक्षणम । तडागोदरसस्थान परीवाह इवाम्भसा । (अ ९७—२)

७ यद्वैद्या —कृष्णै सोवर्चलगुणा लवणे गन्धवर्जिते । (अ ८४—१) ।

"श्रीज्ञानविमलपाठक-सत्पादाम्भोजचञ्चरीकेण ।श्रीवल्लभेन रचिता, शीलोञ्छशास्त्रे शुभा टीका ॥ १६ ॥" श्रीवल्लभेन पद आता है और द्वितीय रचना शेषसङ्ग्रह दीपिका (र स १६५४ श्रा कृ ८) मे भी "गुरूणामन्तिषदाऽणुना श्रीवल्लभेन" पद प्राप्त होता है। यही नही किन्तु इनके गुरु उ श्रीज्ञानविमल रचित शब्दप्रभेद वृत्ति मे, जो इनके गाढसहायता से पूर्ण हुई थी; 'अस्मदन्तिपदो विद्वच्छ्रीवल्लभ ' शब्द ही आता है। इनके नाम के साथ मे स १६५४ तक किसी प्रकार की उपाधि या विशेषण प्राप्त नही होता। किन्तु तदनन्तर की समग्र रचनाओ मे गणि और वाचनाचार्य पद का प्रयोग देखने मे आता है। स १६५४ के एक वर्ष पश्चात् ही की रचना 'उपकेश शब्द व्युत्पत्ति' (र स १६५५)मे 'पण्डितश्रीवल्लभगणि-विरचिता' उल्लेख है। अत सभव है कि स १६५४ के अन्त मे ही अथवा १६५५ मे के प्रारम्भ मे ही आपको गणि पद प्राप्त हुआ हो। पश्चात् अरजिनस्तववृत्ति मे 'श्रीवल्लभेन गणिना वै' दुर्गपदप्रबोधवृत्ति (र सं १६६१) मे 'वाचक', अभिधान चिन्तामणि नाममाला टीका (र स १६६७), विद्वत्प्रबोधकाव्य और सारस्वत सूत्र के केशा पद्य की टीका मे क्रमश 'तच्छिष्यो वाचनाचार्यो वादि श्रीवल्लभ ' 'वाचनाचार्यधुर्यश्री-श्रीवल्लभगणीश्वरै ' तथा 'वाचनाचार्य' लिखा प्राप्त होता है।

उपाध्याय पद का उल्लेख हमे सर्वप्रथम चतुर्दशस्वर-स्थापन वादस्थल(र स १६७४ से १६९०)मे ' श्रीवल्लभ

पाठक' पद मिलता है और विजयदेव माहात्म्य (जिसकी रचना अनुमानत . १६८७ के आस-पास हुई थी, जो शायद उनकी अन्तिम रचना थी) मे 'श्रीवल्लभोपाध्याय विरचिते' मिलता है। अत संभव है कि स १६६७ और १६८७ के मध्य मे आचार्य जिनसिंहसूरि ने या आचार्य जिनराजसूरि ने उन्हें यह पद प्रदान किया हो !

साथ ही अभिधान चिन्तामणि नाममाला-वृत्ति की प्रशस्ति मे "वादि श्रीवल्लभ:' शब्द से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन्होंने स १६६७ पूर्व ही कही पर किसी विद्वान से शास्त्रार्थ किया और उसे पराजित कर स्वयं ने विजय पताका प्राप्त की हो । अन्यथा हमें उदारमना महर्षि अपने लिये व्यर्थ की उपाधि का प्रयोग न करते ।

विशालहृदयता

उस समय खरतरगच्छ और तपगच्छ मे विविवाद विपयक विवाद प्रवल वेग से चल रहा था और उसमे दोनों गच्छों के प्रमुख-प्रमुख व्यक्ति भाग ले रहे थे । इधर तपगच्छ की ओर से उ० धर्मसागर, नेमिसागर, लब्धिसागर और खरतरगच्छ की तरफ से महोपाध्याय धनचन्द्र, महो साधुकीर्ति उ. जयसोम उ. गुणविनय, मतिकीर्ति आदि लगे हुये थे। यहीं नही किन्तु सर्व गच्छ के माननीय शान्तमना महर्षि उपाध्याय समयसुन्दर जैसे भी (किसी पूर्वाभिनिवेश या दुराग्रह के वशीभूत

होकर नही किन्तु वस्तु-निरूपण की दृष्टि से) अपने ग्रन्थो मे उ धर्मसागर प्ररूपित प्रश्नो को सरलता पूर्वक खण्डन कर स्वगच्छ की आचरणाओ का मण्डन कर रहे थे। इन दोनों गच्छो के विवाद ही नही, किन्तु विजयदेवसूरि (जिनके लिये उ श्रीवल्लभ ने विजयदेवमहात्म्य की रचना की) के समय मे तपगच्छ मे भी 'विजय' ओर 'सागर' के विवाद समाज मे ऐसे विषेले बीजो का वपन कर रहे थे, जिससे समाज का सगठन छिन्न-भिन्न हो जाय। किन्तु तत्कालीन गच्छनायकों की चातुरी से समाज छिन्न-भिन्न तो नही हुआ परन्तु दो टुकडे अवश्य हो गये, जो आज भी मौजूद है[1]।

ऐसे विक्षेप के समय मे 'वादी' होते हुए भी श्रीवल्लभ का इन प्रपञ्चो मे फसना प्रतीत नही होता और न किसी ग्रन्थ मे इनका इस विषय मे कोई उल्लेख ही प्राप्त होता है। अत यह निश्चित है कि श्रीवल्लभ दोनो गच्छो के सघर्ष मे तटस्थ ही रहे थे। वे किसी प्रकार के वादो मे पडकर स्वसमय को नष्ट करना नही चाहते थे।

जिस समय तपगच्छ के साधु खरतरगच्छ के आचार्यों की प्रशसा करना तो दूर उनकी कीर्ति का श्रवण करना भी अच्छा नही समझते थे और इसी प्रकार खरतरगच्छ के साधु भी तपगच्छ के प्रभाविक पुरुषो का कीर्तिगान करने मे सकुचाते थे। यद्यपि उ. समयसुन्दरजी ने पार्श्व-

१ देखे—विजयतिलकसूरि रास

चन्द्रगच्छीय पूजा ऋषि का गुणवर्णन मुक्तकण्ठ से किया है तथा खरतर, तपा, अञ्चल इन तीनों गच्छों के आचार्यो का सुललित पद्यों मे "भट्टारक तीन भए वड़भागी" कहकर गुणगान किया है; जो तत्कालीन समग्र साहित्य मे अपवादरूप ही समझना चाहिए। ऐसे समय मे तपगच्छीय प्रसिद्ध आचार्य विजयदेवसूरिजी महाराज के चारित्रिक गुणो से प्रभावित होकर कवि ने १८ सर्गात्मक विजयदेवमाहात्म्य नामक महाकाव्य की रचना की और इससे अपनी माध्यस्थता, उदारता, विशालहृदयता का परिचय दिया। इसके सम्वन्ध मे मुनि जिनविजयजी 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' की प्रस्तावना मे लिखते हैं:—

"श्रीवल्लभोपाध्याय की कृतियों मे से एक कृति वडी ध्यान खीचने लायक है। इसका नाम है विजयदेवमहात्म्य। इसमे तपगच्छ के प्रसिद्ध आचार्य श्रीविजयदेवसूरि का सविस्तर जीवन-चरित्र वर्णन किया गया है। (ध्यान मे रहे कि चरित्रनायक और चरित्रलेखक दोनो समकालीन हैं और विजयदेवसूरि अपने महात्म्य के निर्माण के समय मे विद्यमान थे।) उस समय परस्पर साम्प्रदायिक विरोध इतना बढा हुआ था कि एक गच्छ वाले दूसरे गच्छ के प्रतिष्ठित व्यक्ति के गुणानुवाद करना तो दूर रहे परन्तु श्रवण मे भी मध्यस्थता नही दिखला सकते थे। अर्थात् तपागच्छ वाले खरतरगच्छीय व्यक्ति के प्रति अपना वहुमान नही दिखा सकते थे और खरतरगच्छानुयायी तपागच्छ के प्रसिद्ध पुरुष की प्रशंसा करते दिल मे दुःख

मनाते थे। ऐसी दशा मे, खरतरगच्छीय एक विद्वान उपाध्याय के द्वारा तपागच्छ के एक आचार्य के गुणगान मे बडा ग्रन्थ लिखा जाने वाला काम अवश्य आश्चर्य उत्पन्न करता है। समाज की यह विरोधात्मक प्रकृति, श्री वल्लभ पाठक के ध्यान से बहार न थी। वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि मेरे इस–भिन्न गच्छ के आचार्य की प्रशसा और स्तवना करने वाले ग्रन्थ के लिखने रूप–कार्य से वहुत से दुराग्रही और स्वसाम्प्रदायिक असन्तुष्ट होकर मुझ पर कटाक्ष करेगे। इसलिये इन्होने ग्रन्थ के अन्त मे, सक्षेप मे परन्तु असरकारक शब्दो मे लिख दिया है कि —

यदन्यगच्छप्रभव कवि कि, मुक्त्वा स्वसूरि तपगच्छसूरे।
कथ चरित्र कुरुते पवित्र, शङ्कयमार्यैर्न कदापि कार्या॥

आत्मार्थसिद्धि किल कस्य नेष्टा
सा तु स्तुतेरेव महात्मना स्यात्।
आभाणकोऽपि प्रथितोऽस्ति लोके,
गङ्गा हि कस्यापि न पैतृकीयम्॥

तस्मान्मया केवलमर्थसिद्धयै–जिह्वापवित्रीकरणाय यद्वा।
इति स्तुत श्रीविजयादिदेव, सूरिस्सम श्रीविजयादिसिंहै॥

अर्थात् — अन्य (खरतर) गच्छ वाला कवि अपने गच्छ के आचार्य को छोडकर तपागच्छ के आचार्य का चरित्र कैसे बनाता है, यह शका विद्वान् मनुष्यो को न लानी चाहिए। क्यो कि आत्मसिद्धि किसे अभीष्ट नही

है ?—सभी को इष्ट है। यह आत्मसिद्धि महात्माओं की स्तुति द्वारा होती है। और महात्माओ के लिये यह कोई नियम नही है कि वे अमुक पथ या समुदाय मे ही उत्पन्न हुआ करते हं और यह भी कोई प्रतिबन्ध नही है कि अमुक मतानुयायी अमुक ही महात्माओ की स्तवना करे। जैसे गगा किसी के बाप की नही है—सब ही उसके अमृतमय जल का पान कर सकते है—वैसे महात्माओ भी किसी के रजिष्टर्ड नही किये हुए हं, सव ही मनुष्य अपनी अपनी इच्छानुसार उनके गुणगान कर अपनी उन्नति कर सकते है। इसलिये मैंने—खरतर-गच्छानुयायी होकर भी—अपनी जिह्वा को पवित्र करने के लिये तपागच्छ के महात्मा श्रीविजयदेवसूरि और (उनके शिष्य) विजयसिहसूरि का यह पवित्र चरित्र लिखा है। इस विषय मे किसी को उद्वेगजनक विकल्प करने की जरूरत नही है। वाह! कैसी उदार दृष्टि और गुणानुराग! । यदि केवल इन ही ३ पद्यों का स्मरण और मनन हमारा आधुनिक जैन-समाज करे तो थोड़े ही दिनो मे वह उन्नति के शिखर पर आरूढ हो सकता है। शासनदेव वह दिन शीघ्र दिखावे। (पृ. ८२–८४)"

इनके उदारहृदय का परिचय देने वाली एक घटना और हुई। श्वेताम्बर जैनों मे एक गच्छ है जिसका नाम है उपकेश। श्रीवल्लभजी के समकालीन उपकेशगच्छनायक श्रीसिद्धसूरि ने चाहा कि 'उनके गच्छ के नाम की एक सुन्दर व्युत्पत्ति हो जाय।' इस काम के लिये उन्होने

श्रीवल्लभजी से आग्रह किया । इस पर उन्होने उनके आग्रह को स्वीकार कर "ओकेश-उपकेश-पद-दशार्थी" की स १६५५ मे विक्रमनगर (वीकानेर) मे वडे विलक्षण ढग से रचना की । इससे भी स्पष्ट है कि इनके हृदय में साम्प्रदायिक भावो का लवलेश भी नही था, अपितु वे सहृदय उदार थे ।

विहार और शिष्यपरम्परा

इनके ग्रन्थो के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका वाल्यजीवन और प्रौढावस्था का समय राजस्थान मे ही व्यतीत हुआ है । किन्तु विजयदेव महात्म्य को देखते हुए यह कल्पना की जा सकती है कि कवि वृद्धा-वस्था मे 'गुर्जर' देश पहुँचे और वही पर विजयदेव के चारित्र और तप से आकृष्ट होकर विजयदेव महात्म्य की रचना की । इसलिये वहुत सभव है कि उनकी वृद्धावस्था वही पूर्ण हुई हो, और उनका स्वर्गवास भी उसी प्रदेश मे हुआ हो ।

सब से वडी आश्चर्य की वस्तु यह है कि कवि की परम्परा चली हो—ऐसा प्रतीत नही होता, और न इस सम्बन्ध मे किसी प्रकार के उल्लेख ही मिलते है । अथवा उनके स्वय के शिष्य हो तो भी यह निश्चित है कि इनकी परम्परा दीर्घकाल तक नही चली अन्यथा उनमे से कोई तो विद्वान आदि भी होता जिनका कोई न कोई उल्लेख अवश्य मिलता ।

साहित्य – सर्जना

उपाध्याय श्रीवल्लभ का अरजिनस्तव उनके अनेक ग्रन्थो मे से एक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त उन्होने अनेक ग्रन्थ लिखे जिन मे से कुल मिलाकर छोटे-मोटे १४ ग्रन्थ अबतक उपलब्ध हो चुके है। इनमे से ५ तो मौलिक कृतियाँ है और अन्य व्याकरण एव कोषो पर टीकाएँ। चाहे इनके काव्यो को देखिए अथवा टीका ग्रन्थो को, प्रत्येक पृष्ठ पर लेखक का प्रकाण्ड-पाण्डित्य और सौजन्यपूर्ण औदार्य प्रस्फुटित हो रहा है। सब रचनाओ का तो पूर्ण परिचय करवाना यहाँ सभव नही है, केवल उनका सक्षिप्त परिचय मात्र यहाँ दिया जा रहा है जो, मेरी समझ मे, लेखक की प्रतिभा और निपुणता को प्रकाशित करने के लिये बहुत कुछ पर्याप्त है।

मौलिक-ग्रन्थ

विजयदेवमाहात्म्य-महाकाव्य

१७वी शती के तपगच्छ साम्राज्य के अधिपति आचार्य विजयदेवसूरि के माहात्म्य का वर्णन होने से इस महाकाव्य का नाम भी विजयदेव माहात्म्य महाकाव्य रखा गया[१]। साहित्यदर्पणकार के मतानुसार महाकाव्य के जो लक्षण षष्ठ परिच्छेद मे विश्वनाथ ने दिये है उन लक्षणो

---

१ विजयदेवसूरीणा, माहात्म्य अधिक सदा॥ २॥
विजयदेवमाहात्म्य, वर्ण्यतेऽत्र यतोऽद्भुतम्।
विजयदेवमाहात्म्य, नामकाव्य तत स्मृतम्॥ ३॥

से तुलना करने पर यह 'माहात्म्य' भी महाकाव्य की कोटि मे आता है। इसके नायक, विजयदेवसूरि धीरोदात्त और देवत्व गुण से परिपूर्ण हैं। इसमे शान्तरस मुख्य है। इसका कथानक महात्मा के जीवन-चरित पर आश्रित है और तत्कालीन परिस्थितियो का साँगोपाङ्ग वर्णन होने से ऐतिहासिक भी है। इसमे धर्मफल की प्रधानता है। आदि मे नमस्कार और कथानक-वस्तु का निर्देश भी है। इसमे १६ सर्ग है, सर्गस्थ श्लोको की सख्या मध्यम है, हाँ, नवम सर्ग के श्लोको की सख्या अन्य सर्गो की अपेक्षा अधिक है। इसमे ३६६ पद्य हैं। प्रत्येक सर्ग एक ही छन्द मे अनुस्यूत है, तथा अन्तिम वृत्त अन्य छन्द मे ग्रथित है। इसमे कई स्थलो पर 'सागर[२]' आदि खलो की निन्दा और महापुरुषो का गुणगान भी किया गया है। प्रसङ्गोपात पुत्र जन्म, विवाह (दीक्षा), मुनि, स्वर्ग, सूर्य, चन्द्र, सागर आदि का वर्णन भी है। स्थान-स्थान पर अनुप्रास, श्लेष, यमक, वक्रोक्ति, अर्थान्तरन्यास, अतिशयोक्ति, अन्योक्ति, विरोध, उपमा, रूपक आदि अलकारो का इसमे अच्छा समावेश किया है। अत यह काव्य केवल महात्म्य ही नही है किन्तु लक्षणसिद्ध घटना वहुल महाकाव्य है।

इसका रचना समय अज्ञात है। महाकवि ने प्रशस्ति मे इसका कोई उल्लेख नही किया है, किन्तु इस महात्म्य का आलोडन करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता

---

२ देखे, एकादश सर्ग

है कि इसकी रचना स १६८७ के पश्चात् ही कवि ने की है। इसका आधार यह है कि कवि चरितनायक के जन्म काल १६३४ से लेकर १६८७ तक की क्रमवद्ध घटनाओं का वर्णन सागोपाङ्ग करता है। नायक का देहावसान १७१३ मे हुआ है। कवि उनके देहावसान का तो क्या, किन्तु चरितनायक के १६८० के वाद दक्षिण देश मे पधारने और काफी समय तक इस प्रदेश मे विचरण करने का उल्लेख भी नही करता। १६८४ मे विजयदेवसूरि ने विजयसिंहसूरि को भट्टारक पद दिया और १६८६ में स्वर्णगिरि (जालोर) मे प्रतिष्ठा करवाओ[1]। स. १६८७ मे मेदिनीतट[2] (वर्तमान-मेड़ता सिटी) मे प्रतिष्ठा करवाई और उसके पश्चात् करवाया गगाणी[3] तीर्थ का जीर्णोद्धार। इसके पश्चात् काव्य मे कोई जीवन की उल्लेखनीय घटना नही है,– किन्तु जहाँगीर पर प्रभाव, तपवर्णन, चारित्रवर्णन, और गुणवर्णनों मे ही आगे के सर्ग पूर्ण किये गये हैं। इसमे एक और घटना का उल्लेख है

---

१ षोडशस्य शतस्यास्मिन्, षडशीतितमेऽब्दके।
प्रथमाषाढपक्षस्य, कृष्णे पञ्चमवासरे। ॥ १६ ॥
प्रत्यतिष्ठ जिनेन्द्राणा, प्रतिमा प्रतिमाग्रिमा।
विजयदेवसूरीन्द्र श्री जावालपुरेवरे ॥ १७ ॥ त्रयोदश सर्ग।

२. षोडशस्य शतस्यास्मिन्, सप्ताशीतितमेऽब्दके।
प्रतिमाना प्रतिष्ठाऽभूदेव श्रीमेदिनीतटे ॥ ७२ ॥ १३ स.

३. देखें, १४ वा सर्ग

मेघजी[1] आदि मुख्य श्रावकवर्ग ने 'सागरमत' का त्याग कर, पुन. गुरु से वासक्षेप प्राप्त कर बोधिलाभ उपार्जन किया । इसका भी समय अवचूरिकार[2] ने स १६८७ दिया है। अत यह अनुमान ठीक ही प्रतीत होता है कि इसकी रचना १६८७ के अन्त मे ही हुई है। अन्यथा १६८८ की भी कोई घटना का उल्लेख अवश्य किया जाता ।

कवि ने काव्य के प्रथम और द्वितीय सर्ग मे चरितनायक का जन्म, विद्याभ्यास, वैवाहिक बन्धनो को न स्वीकार कर ब्रह्मचारी रहने की अत्युत्कट अभिलाषा और सयम के प्रति आकर्षण का वर्णन किया है। ३-४ सर्ग मे आचार्य हीरविजयसूरि का प्रभाव वर्णन और विजयसेनसूरि का जीवन-चरित है। ५-७ सर्गो माता सहित चरितनायक की दीक्षा, शास्त्राभ्यास, विजयसेनसूरि के साथ सम्राट अकबर से मिलाप तथा चरितनायक के गणि और आचार्य पद प्राप्ति का वर्णन किया गया है । ८ वे सर्ग मे कनकविजयादि शिष्यो का और ९-१० में प्रतिष्ठा, चातुर्मास, दीक्षाप्रदान और विजयसिहसूरि को स्व पट्ट पर अभिषिक्ति करने का वर्णन मिलता है । ११ वे मे 'सागरपक्षीय' प्रतिवादियो को पराजित करने का उल्लेख है । १२-१४ मे पाली नवलक्ष प्रसाद पार्श्वनाथ,

---

१ सागरीय मत त्यक्त्वा, मेघाद्या श्राद्ध मुख्यका ।
बोधि प्राप्ता गुरो रेव, वासक्षेपमकारयन् ॥ १९७ ॥ १ स

२ × × × १६८० वर्षे यन्मतकर्षित तत्सागरीय मत त्यक्त्वा सा मेघाद्या वहव श्रावका × × × देखें पृष्ठ १२६

जालोर, मेडता आदि प्रतिष्ठाओ का विशद वर्णन तथा तथा गँगाणी तीर्थ के जीर्णोद्धार का प्रसग कवि ने सुन्दर शब्दो मे व्यक्त किया है। १६ मे तपवर्णन, १७वे मे स्तम्भतीर्थ चातुर्मास वर्णन, १८वे मे सम्राट् जहाँगीर पर प्रभाव और महातपा विरुद प्राप्ति तथा सागर पराजय का वर्णन है और १९वे सर्ग मे नायक के औदार्यादि गुणों का व्याख्यान है।

यह कवि की अन्तिम रचना है। इसके पश्चात् की कोई भी कृति प्राप्त नही होती है। इस काव्य के ऊपर सम सामयिक प्रसिद्ध साहित्यकार उपाध्याय श्रीमेघविजयजी प्रणीत अवचूरि प्राप्त है। इस काव्य की दो सुन्दर प्रतियाँ जयचन्द्रजी भण्डार बीकानेर व हरिसागरसूरि भण्डार लोहावट मे है।

विद्वत्प्रबोध

काव्य के अन्त मे निर्माण काल का उल्लेख न होने से समयनिर्धारण नही किया जा सकता। किन्तु यह रचना अत्यन्त प्रौढ, क्लिष्ट एव पाण्डित्य पूर्ण होने के कारण स १६६० के पश्चात् की ही लगती है। इसकी रचना वलभद्रपुर (सभव है उसे ही आज-कल 'बालोतरा' कहते हो, जो जोधपुर स्टेट मे पचपदरा परगने मे है) मे श्रीबलभद्र की विशिष्ट विद्वद्गोष्टी मे प्रयोजन उपस्थित होने पर मेधावियो के अभिमान को मथन करने के लिये की गई है:—

विद्वत्प्रबोधनामाय, ग्रन्थो विद्वत्प्रबोधकृत् ।
स्फूर्जच्छी बलभद्रे, श्रीबलभद्रपुरे वरे ।। २ ।।
विद्वद्गोष्ठ्यां विशिष्टाया, सजताया प्रयोजनम् ।
एतद्ग्रन्थस्य मेधाव्यभिमानोन्मथनाय वे ।। ३ ।।
सयोगिवर्ण निगृणाति विद्वान्, योऽय तमादौ च विधाय विद्वान् ।
दिव्येपु पादेपु चतुर्व्वशङ्क , सद्य सुपद्य विदधातु हृद्यम् ।।४।।

इसमे तीन परिच्छेद है और प्रत्येक मे क्रमश ५६,६० तथा २१ पद्य है । प्रथम परिच्छेद मे चतुष्पादधारी गज, अश्व, वृषभ, सिह और उष्ट्र का वर्णन है । द्वितीय परिच्छेद मे द्विपदधारी शुक, तित्तिरि, हस, बक, चक्रवाक, सारस, टिट्टिभ, मयूर ओर चाष पक्षियो का वर्णन है तथा तृतीय परिच्छेद मे साधु, पण्डित और वीर का सयोगि वर्णो को ग्रहण कर वर्णन किया है ।

सयुक्त वर्णो के आधार पर इस प्रकार की विद्वतापूर्ण रचना जैन-साहित्य मे ही नही अपितु भारतीय साहित्य मे भी इनी-गिनी ही प्राप्त है । इस दृष्टि से यह काव्य कवि की ऊज्वल कीर्ति को भारतीय वाङमय मे अमर रखने के लिये पर्याप्त है । यह काव्य जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार सूरत द्वारा महावीर स्तोत्र के साथ प्रकाशित हो चुका है ।

चतुर्दशस्वरस्थापनवादस्थल

इस ग्रन्थ मे सारस्वत व्याकरण मे उल्लिखित १४ चौदह स्वरो की स्थापना की गई है । किसी 'कूर्चालि सरस्वतीविरुदं मन्यमान' प्रतिवादी ने पाच विकल्पो के

द्वारा, ज्योतिष तथा मातृका नाममाला के आधार पर १६ सोलह स्वरो की स्थापना की। उस प्रतिवादी को यथोचित शास्त्रीय प्रमाणो–पाणिनीय, सिद्धहेम, सारस्वत, श्रीकण्ठ आदि व्याकरणो–के आधार पर उत्तर देकर, १४ स्वरो की ही स्थापना कर, वादक्षेत्र से उसे पराङ्मुख किया हो। इसीलिये इस पुस्तिका का नाम भी वादी श्रीवल्लभ ने चतुर्दशस्वरस्थापन वादस्थल रखा प्रतीत होता है। जैसा कि इसकी अवतरणिका से स्पष्ट होता है —

सन्ति स्वरा के कति च प्रतीता, सारस्वतव्याकरणोक्तयुक्त्या।
समस्तशास्त्रार्थविचारवेत्ता, कश्चित् विपश्चित् परिपृच्छतीति।
पुरातनव्याकरणाद्यनेक–ग्रन्थानुसारेण सदादरेण।
तदुत्तर स्पष्टतया करोति, श्रीवल्लभः पाठक उत्सवाय ॥३॥

तद्यथा —इह केचिदहङ्कारशिखरिसमा समारूढा, सारासारविचारकरणचातुरीव्यामूढा, कूर्चालसरस्वतीति विरुदमात्मन पाठयन्त, स्वगल्लझल्लरीझात्कारेण अविद्यानटी नाटयन्त, सकलशाब्दिकचक्रचक्रवर्तिचूडामणिमात्मानं मन्यमाना, स्वराणां चतुर्दशसङ्ख्यासज्ञा विप्रतिपाद्यमाना, अतुच्छमात्सर्यादिअनणुगुणमत्कुणतल्पकल्पा, सङ्कलिताऽल्प-विकल्पा प्रजल्पन्ति जल्पका. स्वरा कियन्त? इति वदन्तो वादिन . . " ।

यह वाद किस प्रतिवादी के साथ हुआ? कहाँ पर हुआ? किसकी सभा मे या अध्यक्षता मे हुआ? इस

पुस्तिका से ज्ञात नही होता । यह रचना श्रीजिनराजसूरि[1] के राज्य मे हुई है, इव इसमे अपने लिये कवि ने उपाध्याय पद का उपयोग किया है । अत यह रचना स १६७४ के पश्चात् की है । यह वादस्थल वहुत ही छोटा है । इसकी प्रेसकॉपी मेरे सग्रह मे हे ।

अभिधान चिन्तामणि नाममाला टीका की प्रशस्ति मे कवि के नाम के साथ 'वादी श्रीवल्लभ' वादी विशेपण का प्रयोग देखने मे आता हे । अत यह स्पष्ट ह कि स. १६६७ के पूर्व मे ही आपने किसी वादी के साथ शास्त्रार्थ कर उसे पराजित कर विजयलक्ष्मी प्राप्त कर अपने लिये 'वादी' विशेपण का उपयोग किया हो ओर स. १६७४ के पश्चात् यह १४ स्वरो विषयक वाद दूसरी वार हुआ हो ।

उपकेशशब्दव्युत्पत्ति

स १६५५मे विक्रमनगर (वीकानेर) मे उपकेशगच्छीय ककुदाचार्य सन्तानीय श्रीसिद्धसूरि के आग्रह से उदारता पूर्वक ओकेश और उपकेश इन दोनो शब्दो के ५ – ५ अर्थ व्युत्पत्ति प्रदर्शन पूर्वक वहुत ही सुन्दर पद्धति से लिखे है —

"स १६५५वर्षे श्रीमद्विक्रमनगरे सकलवादिवृन्दकन्द-कुद्दालककुदाचार्यसन्तानीय श्रीमच्छ्रीसिद्धसूरीश्वराणामाग्रहत: श्रीमद्‌वृहत्खरतरगच्छीय वाचनाचार्यधुर्यश्रीज्ञानविमल-

---

१ श्रीजिनराजसूरीन्द्रे, धर्मराज्य विधातरि ।
अस्मिन् खरतरे गच्छे, धर्मराज्य विधातरि ॥ १ ॥

गणिशिष्य पण्डित श्रीवल्लभगणिविरचिता ओकेश – उपकेश-पदद्वयदशार्थी समाप्ता ।"

उपकेशशब्दव्युत्पत्ति की प्राय प्रत्येक प्रतियों के साथ मे ही "खरतरशब्दव्युत्पत्ति" भी लिखी हुई प्राप्त होती है । सभव है यह कृति भी आपकी ही हो ।

टीका-ग्रन्थ

अरजिनस्तववृत्तिः

अरजिनस्तव पर ही आप की यह स्वोपज्ञ टीका है । सहस्रदलात्मक इस चित्रकाव्य पर आप की यह टीका न होती तो इस की मार्मिकता समझने मे काफी असुविधाएँ रहती । इस टीका का निर्माण काल लेखक ने प्रशस्ति मे नही दिया है, फिर भी प्रशस्ति से कुछ अनुमान किया जा सकता है —

खरतरगणजलधिसमुल्लासनरजनीपतिप्रकाराणाम् ।
नम्रानेकनराणाँ, श्रीजिनमाणिक्यसूरीणाम् ।। १ ।।
पट्टे वरे[ऽधि]विजयिषु, कुमतिलताव्रातनाशनहिमेषु ।
श्रीमच्छ्रीजिनचन्द्राभिधानसूरिष्वधीशेषु ।। २ ।।
येषा स्फुरत्प्रतापाधिक्यजित सन् निरन्तर भानु ।
भ्रमतितमावियति हि ते, ज्ञानविमलवाचका नन्द्यु ।। ३ ।।
तत्पादाम्वुजमधुकरशिष्यश्रीवल्लभेन गणिना वै ।
विहिता स्तववृत्तिरियं, यदनृतमिह तद्बुधै. शोध्यम् ।। ४ ।।

इस मे अपने लिये श्रीवल्लभ ने "श्रीवल्लभेन गणिना" गणि शब्द का प्रयोग किया है। उपाध्याय पद प्रकरण मे हम देख चुके है कि स १६५५ मे आप को गणि पद प्राप्त हुआ था, स १६५४ तक तो आप केवल मुनि श्रीवल्लभ ही थे। अत इस की रचना १६५५ के बाद की ही है। और दूसरी बात, 'श्रीमच्छ्रीजिनचन्द्राभिधान-सूरिष्वधीशेषु' श्रीजिनचन्द्रसूरि के विजय राज्य मे आता है। आचार्य जिनचन्द्र का १६७० मे स्वर्गवास हुआ था, अत. १६५५ और १६७० के मध्यकाल मे इस की रचना हुई है, स्पष्ट है। साथ ही यह मानना भी अनुपयुक्त न होगा कि मूल और टीका की रचना साथ-साथ ही हुई है।

यह लेखक के प्रौढावस्था की रचना है, अत इस की भाषा भी बहुत ही प्राञ्जल और प्रवाहपूर्ण है। इस स्तोत्र मे लेखक को अनिष्पन्न और अप्रचलित शब्दों को रकारगर्भित करने के लिये जिस योजना-कौशल और पाण्डित्य की आवश्यकता थी वह इसमे पूर्णरूपेण विद्यमान है। जहाँ १००० रकार प्रधान काव्य की रचना करना हो, वहाँ उस काव्य मे प्राय अधिक शब्द तो अप्रसिद्ध ही प्रयुक्त होते है उन्हे सिद्ध करने के लिये उणादिसूत्र और अनेकार्थी तथा एकाक्षरी नाममालाओ का आश्रय लेना पडता है। टीकाकार ने भी इसमे हैमव्याकरण, उणादिसूत्र, धातु-पारायण, कविकल्पद्रुम, अनेकार्थनाममाला, सौभरि, सुधा-कलश, विश्वशभु, ध्वनिमञ्जरी आदि एकाक्षरी नाममालाओं

के आधार पर ही शब्दो की निष्पत्ति की है। उदाहरण के लिये देखिए :—

पद्य ४१ मे 'कठोरकालूरविदारसायुः' पद की व्याख्या—

"कठोरकालूरविदारसायु." कठोर—दृढ कं—दु:खं येषां ते कठोरका, "कं शिर कं सुख तोयं, पयो दु:ख" [सौ. ए. २०] इत्युक्ते, कठोरकाश्च ते आलूराश्च-विटाः कठोरकालूरास्तेषा विगतो दारः—भय यस्मात् स कठोर-कालूरविदार', आलूरशब्द उणादिर्विटवाची, साया·—लक्ष्म्याः आयुः—जीवन यस्मात् सायुः, द्वाभ्या कर्मधारये कठोरकालूर-विदारसायुः, "ईण्क् गतौ" "कृवापाजिस्वदिसाध्यशौदृस्ना-सनिजानिरहीण्भ्य उण्" [सि हे. उ सू १] इति सूत्रेण उण् प्रत्यये आयुरिति, "पुरुषः शकट औषध जीवन पुरुरवः पुत्रो वा" इति आकारः पादपूरणार्थ ॥१४॥

इसी प्रकार पद्य ४१ के कुछ अंशो का रसास्वादन करिए .—

. . .श्री अरनाथजिन· 'संसरणनीरधितीरं' ससरणं-संसार. "ससरण त्वसम्वाधचमूगतौ। ससारे" [अने सं कां. ३ श्लो. १४६३–६४] इति हैमानेकार्थोक्तेः, संसरण-मेवनीरधि·—संसारसागरः, नीरशब्दो जलवाची औणादिक,: तस्य तीरं—प्रान्तं तटं वा संसरणनीरधितीरं 'पस्फार' प्राप्तवान्, "स्फर स्फलत् स्फुरणे, चलने [इत्येके]" इति धातुपारायणवचनाद्, गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वात् परोक्षाया णवि

रूपम् । किम्भूत. [सुश्री]? , इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूरविदार-जित्वर.' "इण्क् गतौ" ज्ञानार्थोऽत्र, यत्नीत्येवशीला. "सृजीण्नशष्ट्वरप्" [सि हे. ५-२-७७] इत्यनेन ट्वरपि इत्वरा–पण्डिता ना नरा, "नो नरे च सनाथेऽपि" [वि ए ७६] इति विश्वशम्भूक्ते, तेषां उद्धार–उद्धरण ससारपातादिति येषा ते नोद्धारा, इत्वराश्च ते नोद्धाराश्च इत्वरनोद्धारा, त एव पुष्कराणि–पद्मानि तेषा विकासेन सुसूर इव–प्रधानभानुरिव योऽसौ इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूर., विदारे-सङ्ग्रामे "विदारो युधि" [अने स का ३ श्लो १२०३] इति वचनप्रामाण्यात्, शत्रून् जयतीत्येवशील: "सृजीण्नशष्ट्वरप्" [सि हे ५-२-७७] इति ट्वरपि विदार', इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूरश्चासौ विदार-जित्वरश्चेति कर्मधारये इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूरविदार-जित्वर । पुन किम्भूत सुश्री ? 'अकन्तु ' निष्काम:, "कन्तु कामकुसूलयो." [अने स का २ श्लो १७५] इत्युक्ते । पुन किम्भूत सुश्री. ? 'रपकौ·' "रप भाषणे" अकश्चि रपन्ति–भाषन्ते स्याद्वादमिति रपकास्तान् अवति–रक्षति योऽसौ तथा ।"

शिलोछनाममाला-वृत्ति

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्यप्रवर श्रीहेमचन्द्राचार्य प्रणीत अभिधानचिन्तामणिनाममाला की 'शिलोञ्छ' करने की

इच्छावाले[1] लघुखरतरशाखीय मुहम्मदतुगलकप्रतिबोधक आचार्य जिनप्रभसूरि के शिष्य आचार्य जिनदेवसूरि[2] ने स १४३३[3] मे इसकी रचना की । उस पर श्रीवल्लभ ने हैमव्याकरण, हैमोणादि, हैमकोष नाममाला आदि ग्रँथों का अवलोकन कर स १६५४ चैत्र कृष्णा सप्तमी के

---

१ तत्र प्रथममनेककोविदवदारुप्रवरनरविन्दवन्दितपादारविन्दविलसद्-वाग्युक्तिव्यक्तिशक्तिविजितसमस्तप्रशस्तग्रन्थपरमार्थसमर्थविगतपदा-र्थसार्थश्रीमत्पुरन्दरसूरयस्तर्कव्याकरणसाहित्यालङ्कारछन्दोज्योतिष-नाटकपेटकप्रमुखानेकग्रन्थकोटयम्भोनिधय श्रीमद्वृद्धेतरखर-तरगच्छालङ्कारस्फारहारप्रकारसारश्रीजिनप्रभसूरिशिष्यश्रीजिनदेव-सूरय श्री हेमचन्द्राचार्यविरचिता-भिधानचिन्ताणिनाममालाशिलोञ्छवर्तुमिच्छव

(शिलोञ्छटीकाया भूमिका)

२ जिनदेवसूरि के मातका नाम वीरिणी था और पिता का नाम था कुल-धर। आचार्य जिनप्रभ सूरि के पास आपने दीक्षा ग्रहण की थी। जिनप्रभसूरि ने आपको अपने पट्ट पर स्थापित किया था। सुल्तान मुहम्मद तुगलक से जब सूरिजी मिले थे उस समय भी आप साथ थे। सूरिजी के विहार करने के पश्चात् आप सुलतान के पास बहुत अर्से तक रहे थे और इनका सुलतान पर प्रभाव भी अच्छा था। आपकी रचित दो ही कृतियाँ प्राप्त होती है, शिलोञ्छनाममाला और कालिकाचार्य कथा। ये दोनो ही प्रकाशित हो चुकी हैं। आपका विशिष्ट परिचय जानने के लिये प लालचन्द्र भगवानदास गाधी लिखित 'आचार्य जिनप्रभसूरि अने मुहम्मद तुगलक' एव नाहटा बधु लिखित 'शासनप्रभावक जिनप्रभसूरि' निबन्ध देखना चाहिये।

३ वैक्रमेब्दे त्रिविश्वेन्दुमिते राधाद्यपक्षतो।
ग्रन्थोऽय ददृभे श्रीमज्जिनदेवमुनीश्वरैः ॥५७॥

दिवस मूलार्क मे नागपुर (वर्तमान-नागोर) मे टीका की रचना पूर्ण की। इसका ग्रथमान १३०० श्लोक परिमाण है। सभव है इस टीका का प्रारम्भ फलवर्द्धि पार्श्वनाथ (मेडतारीड) मे किया हो, कारण कि मङ्गलाचारण मे 'श्रीमच्छ्रीफलवर्द्धिकाभिधपुरी' स्थित 'पार्श्वनाथ' को नमस्कार किया है। जेसा कि प्रशस्ति से स्पष्ट है —

श्रीज्ञानविमलपाठकसत्पादाम्भोजचञ्चरीकेण।
श्रीवल्लभेन रचिता शिलोञ्छशास्त्रे शुभा टीका ॥१९॥
हेमव्याकृति-हैमोणादिग्रथादिनामकोशाँश्च।
दृष्ट्वा विमृश्य वाढ, प्रसादमासाद्यपूज्यानाम् ॥२०॥
वेदेन्द्रियरसपृथ्वीसङ्ख्ये वर्पेसु नागपुरनगरे।
मधुमासाद्ये पक्षे मूलार्के सप्तमीतिथ्याम् ॥ २१ ॥

*

त्रयोदशशतान्येव, ग्रन्थमान विनिश्चितम्।
अस्या शिलोञ्छटीकाया, अनुमित्या कृत शुभम् ॥ २८ ॥

यह आप की सर्वप्रथम टीकाकृति है।

शेषसंग्रह दीपिका

अभिधानचिन्तामणिनाममाला मे कथित शब्दो के अतिरिक्त शब्दो का सग्रह आचार्य हेमचन्द्र ने 'शेपसग्रह-नाममाला' के रूप मे किया। इस की टीका 'दीपिका' के नाम से, हैमव्याकरण, हैमोणादि, धातुपारायण, विश्व-कोष, अनेकार्थकोष, वैजयन्ती, वाचस्पति, मार्कण्डेयपुराण आदि ग्रन्थो का अवलोकन कर, स १६५४ श्रावण शुक्ला

अष्टमी को बीकानेर मे, नृपति श्रीरायसिहजी के विजय राज्य मे, १६०० ग्रन्थ परिमाण रचना पूर्ण की —

तेषा विख्यातकीर्त्तीणा, गुरूणामन्तिपदाऽणुना ।
कृता श्रीवल्लभेनेय, शेषसग्रहदीपिका ॥ १८ ॥
हैमव्याकरणोणादिधातुपारायणानि च ।
विश्वकोषाद्यनेकार्थनामकोशकदम्बकम् ॥ १६ ॥
वर्षे शतानन्दमुखेन्द्रियेशपुत्राननाब्जप्रमिते वरिष्ठे ।
अष्टम्यहे मासि नभस्य कृष्णे श्रेष्ठे पुरे विक्रमनामधेये ॥२०॥
श्रीविक्रमवशोद्भवसद्विक्रमराजसिहनृपराज्ये ।
सल्लोककोकसम्मदविधानभानू परे रम्ये ॥ २१ ॥

अभिधानचिन्तामणिनाममाला – सारोद्धार – टीका

आपने आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत अभिधानचिन्तामणि-नाममाला पर स १६६७ मे, जोधपुर मे, महाराजा श्रीशूरसिहजी के राज्यत्वकाल मे 'सारोद्धार' नामक विस्तृत टीका की रचना पूर्ण की —

तथा योधपुरद्रङ्गे, सूरसिहनरेशितुः ।
राज्ये च वत्सरे सप्तषष्ठिषट्चन्द्रसम्मिते ॥ ७ ॥

* * *

तच्छिष्यो वाचनाचार्यो वादी श्रीवल्लभोऽद्भुत् ।
श्रीहैमनाममालाया, नाम्नाँ सारोद्धृतिशुभाम् ॥ ११ ॥
हैमव्याकरणोणादिपाणिनीयादिक भृशम् ।
दृष्ट्वैषोऽत्रोद्यमश्चक्रे, नामकोशाश्च भूयसः ॥ १२ ॥

* * *

सूत्रवृत्त्यो सहस्राणि, नवपञ्चशतानि च ।
ग्रन्थमानमिह ज्ञेय, सर्वमेव विचक्षणै ॥१८॥

यह टीका बहुत ही प्रौढ ओर विशाल है । इसमे टीकाकार ने शब्दो के पर्याय मात्र देने के चक्कर मे न फसकर विशिष्ट शब्दों की सिद्धि और व्युत्पत्ति तथा भूरिश ग्रन्थो के उद्धरणो द्वारा टीका को स्पष्ट और सरस बनाने का प्रयत्न किया है । इस टीका मे उद्धरणो की अत्यधिक बहुलता हे जो सामान्य–विद्वान् के अधिकार की वस्तु नही किन्तु प्रौढ–प्रतिभाशाली के निपुणता की द्योतक है । व्याख्या मे लगभग एकसौ सत्तर ग्रन्थों के उद्धरण दिये है, वे भी एक दो नही किन्तु प्रचुर परिमाण मे । साथ ही इसकी एक विशेषता यह भी है कि सस्कृत शब्दो का व्यवहार देश्यशब्दो में किस प्रकार होता है इसको दिखलाने के लिये उन्होंने प्राय "इति भाषा" कहकर राजस्थानी भाषा के घरेलु और साहित्यिक लगभग २५०० शब्दो का प्रयोग किया है, जो राजस्थानी भाषा तथा साहित्य की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । भविष्य मे यदि सभव हो सका तो श्रीवल्लभजी के टीका-ग्रन्थों मे उद्धृत सम्पूर्ण राजस्थानी शब्द कोष तैयार कर साहित्य–मनीषियो की सेवा मे रखने का प्रयत्न करूँगा ।

कही कही किसी शब्द की व्युत्पत्ति की मान्यता मे और साधना मे अन्तर है वही व्याख्याकार ने कई वैयाकरणो एव कोषो द्वारा अपने मत को सिद्ध करने

का प्रयत्न किया है—जो कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा :—

“पङ्क्तिसमूहनामैकं गार्भिणम् ‘गर्भिण्या क्षेत्रपङ्क्तयस्तासां गार्भिणम्’ इति गणरत्नमहोदधिवृत्ति । अत्र गर्भिणी शब्दो मेघमालाशालापङ्क्तयादिवाचकत्वात् अचित्तविशेषवचन इति इकण् प्राप्तौ तद्वाधको ‘भिक्षादे:’ इति सूत्रेण अन् ततो ‘जातिश्चणि’ इति पुवद्भावे, सप्तमाध्यायचतुर्थपादवृत्तिपञ्चाशत्तमसूत्रेण ‘सयोगादिन.’ इत्यन्तलोपप्रतिषेध । गर्भवतीस्त्रीवचनात्तु इकणोऽप्राप्तेरौत्सर्गिकवचनाण् इति न्यासकार: । अतो गर्भवतीनां स्त्रीणां वृन्दानामपि गार्भिणामिति । . . . तरूणीना स्त्रीणा वृन्दनामैकं “यौवतम्” चतुर्थवर्गाद्यान्तोऽयम् । युवतिशब्दस्य भिक्षादिगणमध्ये पाठात् पुवद्भावो न भवति । यत् काशिकाकार.—‘युवतिशब्दोऽत्र पठ्यते। तस्य ग्रहणसामर्थ्यात् पुवद्भावो न भवति।’ अतो ‘अवर्णेवर्णस्य’ इति, युवतिशब्दसम्बधितस्तवर्गप्रथमस्य तृतीयस्वरलोपे योवतं चन्द्राचार्याभिप्रायेण । वस्तुतस्तु तद्धितप्रत्ययोत्पत्ते. प्रायेण पुवद्भावेन भवितव्यम् । ततो युवतीना समूहं यौवन, ‘भिक्षादे’ इत्यण्, ‘जातिश्चणि’ तद्धित—‘यस्वरे’ इति पुवद्भावे तीतिवर्णलोपे यौवनं चतुर्थवर्गपञ्चमान्तोऽयम् । यत· उक्तं भाष्यकारेण—भिक्षादिषु युवतिग्रहणानर्थक्य पुवद्भावस्य सिद्धत्वात् प्रत्ययविघात् इति । यथा —सुरूपमतिनैपथ्य कलाकुशलयौवनम् । यस्य पुण्यकृत· प्रैष्यं सफलं तस्य यौवनम् ।। इति, यस्य पुण्यकृत.— पुण्यकर्तु. पुरुषस्य कलाकुशलयौवन-

कलाचतुरतरुणीवृन्द प्रैष्य–आज्ञाकारि तस्या यौवन–यूनो भाव सफल इत्यन्वय । कीदृश स्वरुप ? अतिनेपथ्य यस्य तत् अतिनेपथ्य इति श्लोकार्थ । यौवत चतुर्थवर्ग-प्रथमान्त' स्वमते, परमते तु यौवन चतुर्थवर्गपञ्चमान्त , इत्युभय तरुणीवृन्दवाचक ज्ञेयम् ।" (का, ६ श्लो ५१ की टीका, पृ १३०–१)

इससे इनका शब्द व्युत्पत्ति ज्ञान और कोश-काव्य-ज्ञान का परिचय मिलता है । दुर्भाग्य है कि इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण टीका साहित्य-जगत मे प्रकाश मे अभी तक नही आई है । जैन सस्थाओ का कर्त्तव्य है कि इस प्रकार की टीकाओ का प्रकाशन शीघ्र और अवश्य करे ।

इसमे का ६ पद्य १७१ की व्याख्या मे सवत् शब्द का उदाहरण देने के लिये श्रीवल्लभजी 'सिद्धहेमकुमार सवत्' का उल्लेख करते है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्व का है। इससे यह तो निश्चित है कि इस सिद्धहेमकुमार सवत् का नाम प्रचलन १७ वी शती के उतरार्द्ध तक अवश्य था – तदनन्तर तो सभवत इस नाम का उल्लेख भी प्राप्त नही होता ।

निघण्टुशेषनाममाला टीका

अभिधानचिन्तामणि नाममाला का ४ पद्य २०८ की टीका "रायणिनामानि **श्रीहेमचन्द्राचार्यकृतहेमनिघण्टुशेषो-क्तानि** ज्ञेयानि । तद्यथा – राजादने तु राजन्या आदि । एतेषा व्युत्पत्तिस्तु **अस्मत्कृत निघण्टुशेषटीकातो** ज्ञेया ।"

से स्पष्ट है कि आपने निघण्टुशेषनाममाला पर टीका की रचना की, पर दुर्भाग्य है कि आज वह प्राप्त ही नही है, सभव है नष्ट हो गई ।

सिद्धहेमशब्दानुशासनवृत्ति

आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत सिद्धहेमशब्दानुशासन पर आपने वृत्ति की रचना है । इस की एक मात्र प्रति 'विजयधर्म-लक्ष्मी-ज्ञानमन्दिर, आगरा' मे सुरक्षित है । पत्र सख्या १४३ है । इस प्रकार की सूचना भाई श्री भँवरलालजी नाहटा से स २००२ मे प्राप्त हुई थी । टीकाकार ने कब इस की रचना की ? यह इन के प्रारम्भिक काल की रचना है अथवा प्रौढावस्था की ? इस विषय मे प्रति के सन्मुख न होने के कारण कुछ भी निश्चय से नही कहा जा सकता । परन्तु इस की पत्र सख्या १४३ होने से यह अनुमान अवश्य होता है कि टीका विशद और प्रौढ होनी चाहिये ।

दुर्गपदप्रबोधवृत्ति

श्री हेमचन्द्राचार्य प्रणीत हेमलिङ्गानुशासनविवरण पर दुर्गपदप्रबोध नामक टीका की रचना आचार्य जिनचन्द्रसूरि एव तत्पट्टधर श्री जिनसिहसूरि के धर्मराज्य मे विचरण करते हुए आपने वि. स १६६१ कार्तिक शुक्ला सप्तमी को जोधपुर मे नरेश सूरसिहजी के विजय राज्य मे अनेक शास्त्रो का अवलोकन कर २००० ग्रन्थ परिमाण मे की —

मोहद्रोहवनप्लुष स्मरपिष प्रध्वस्तदोपद्विप ,
पापक्लेशमुप सनद्गतरुप चारित्रलक्ष्मीपुप ।
पुण्यश्रीपजुप प्रशान्तवपुप स्फूर्जद्यशोज्योतिप ,
तत्पट्टे जिनसिहसूरिगुरवो नन्दन्ति दिव्यौजस ।।३।।

श्रीमद्योधपुरे द्रङ्गे सूरसिंहमहीपतौ ।
प्राज्यराज्यश्रिय शश्वच्छास्तरि प्रभुतोदये ।।५।।
भूमिपड्रसतुङ्गीशसङ्ख्ये वर्षे सुखाधिके ।
मासि कार्तिकिके कान्ते, सुदिने सप्तमीदिने ।।६।।

तेषा शिष्यवरैश्चक्रे, श्रीश्रीवल्लभवाचकै ।
दुर्गपदप्रबोधोऽय, प्रकटज्ञानहेतवे ।।९।।
श्रीहेमचन्द्रसूरीन्द्रकृते लिङ्गानुशासने ।
विद्यते या शुभावृत्तिस्तस्यदुर्गार्थबोधद ।।१०।।

सहस्त्रद्वितय ग्रन्थमानमत्रोदित शुभम् ।
गणनया च वर्णानामनुमित्यावसीयते ।।११।।

वृत्ति की रचना मूल लिङ्गानुशासन पर नही की गई । इसमे 'या शुभावृत्ति विद्यते तस्य दुर्गार्थबोधद ' से स्पष्ट है कि आ० हेमचन्द्र का ही जो लिङ्गानुशासन के ऊपर स्वोपज्ञ विवरण है उसमे जिन-जिन स्थानो मे जहाँ दौर्गस्य या काठिन्य है उन ही स्थलो पर इसमे विवेचन किया गया है । इसीलिये इस विवरण का नाम दुर्गपद-प्रबोध रखा गया है ।

यह टीका भी बहुत सुन्दर है। इसमें भी 'इति प्रसिद्धे' कहकर लगभग १४०० देश्य शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसका सम्पादन भी सुन्दर रूप से होकर 'श्री अमी सोम जैन ग्रन्थमाला, बम्बई द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

सारस्वतप्रयोगनिर्णय

जिनराजसूरि के राज्य मे (सं. १६७४ से १६९०) इसकी रचना हुई है। इसकी एक-मात्र २३ पत्र की अपूर्ण प्रति 'भावहर्षीय खरतर. भंडार, बालोतरा' मे है। ऐसी सूचना भाई श्रीअगरचन्दजी नाहटा ने दी है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि सारस्वतव्याकरण के प्रयोगो का इसमें निर्णय-साधन किया गया है। प्रौढावस्था की कृति होने के कारण संभवत: यह भी महत्वपूर्ण हो, पर प्रति के सन्मुख न होने के कारण विशेष कुछ भी नही कहा जा सकता।

केशा :- पदव्याख्या

सारस्वत व्याकरणस्थ 'केशा'[1] इस पद्य की व्याख्या इसमें सुन्दरतम पद्धति से की गई है। इस एक श्लोक की व्याख्या में भी टीकाकार ने सिद्धहेम, पाणिनीय, विश्वशम्भु, अमर हेमनिघण्टु, श्रीधर इत्यादि के उद्धरणो के साथ

१. केशा: कंजलिका शाभा., करकारिपिनाकभा.।
विविशोगत यो दद्यु', शंवोन्जांवुनशौकस: ॥१॥

इसको सरल और सरस बनाने का प्रयत्न किया है । इसकी रचना कब हुई निश्चित नही कहा जा सकता । इसकी एकमात्र प्रति महिमा भक्ति जैन ज्ञान भण्डार, बीकानेर, पो ७० ग्र १८९० मे सुरक्षित है । पत्र सख्या केवल एक ही है । इसका आद्यन्त इस प्रकार है —

आ-म – सारस्वतस्य सूत्रे यत्, केशा इति पद स्फुटम्

तच्छ्लोकटीकामाचष्टे, श्रीश्रीवल्लभवाचक ॥१॥

अ – कृतश्चाय श्रीज्ञानविमलमहोपाध्यायमिश्राणॉ शिष्य वाचनाचार्यश्रीवल्लभगणिभि , स च शिष्यादिभिर्वाच्य-मानश्चिर नन्द्यात्, श्रीशारदाप्रसादात् ।

चतुर्दशगुणस्थानस्वाध्याय

यह स्वाध्याय (सज्झाय) भाषा मे गुफित है । इसमे १४ गुणस्थानो का क्रमश वर्णन है । इसके २३ पद्य है । इसका आद्यन्त इस प्रकार है –

आदि –

समरवि वीर जिणेसर देव, जसु सुरपति सवि सारइ सेव ।
सुगुरुतणा वचन निसुणेवी, पभणिसु गुणठाणानु भेवी ॥१॥

अन्त .–

एय कुसलकारक दुखनिवारक चउद थानिकी जाणीइ,
जिन तणी वाणी हीइ आणि सुमतिमान वरनाणीइ ।
जे सुणिअ निव्रत करि एक चित्त सुथिर समकित तेह तणओ,
श्रीवल्लभ मुनिवर भणि जिनवर तिहा घरी हुई सुखघणो
॥२३॥

परिशिष्ट परिचय

क

भारतीय वाङ्मय मे सहस्रदलात्मक चित्र-काव्यो मे यह दूसरी कृति है। इसका रचना समय अज्ञात है। इसके कर्ता कौन है? इस स्तोत्र की पंक्तियों मे अस्पष्ट है। 'श्रीरत्न' 'श्रीलब्धरङ्ग' नाम आते है पर निश्चित नही कहा जा सकता कि किस कवि ने इसका प्रणयन किया है। पर हॉ, इतनी वात निश्चित है कि कवि "खरतर" [पद्य ३७] गच्छीय विद्वान था। इस स्तोत्र की विशेषताएँ निम्नलिखित है —

यह स्तोत्र चौवीसवे शासनपति श्रीमहावीर को लक्ष्य मे रखकर वनाया गया है। इसमे ३८ पद्य है। अनेक प्रकार के छन्दों का कवि ने स्वतन्त्रता से प्रयोग किया है। 'अरजिनस्तव' की तरह कवि ने 'र" का प्रयोग किया है। अरजिनस्तवकार ने दो अक्षरों के पश्चात् र का प्रयोग किया है किन्तु इस स्तोत्रकार ने एक अक्षर के पश्चात् ही र का प्रयोग किया है और वह भी १०१६ रकार। एक अक्षर के पश्चात् ही रकार होने के कारण तथा वृत्ति का अभाव होने से इसकी मार्मिकता को समझने मे हम असफल रहे है। अत सभव है यत्र तत्र अशुद्धियाँ रह गई हों।

ख

शतदलकमलमय पार्श्व-स्तव के कर्ता उपाध्याय सहजकीर्त्ति खरतरगच्छीय क्षेमशाखा के वाचक रत्नसार के शिष्य थे। संस्कृत-साहित्य के विशेषत व्याकरण, कोष और साहित्य के आप प्रकाण्ड विद्वान थे, साथ ही थे कवि भी। इनके ऋजुप्राज्ञ नामक व्याकरण, नामकोष नामक कोष, सारस्वत वृत्ति, कल्पसूत्र वृत्ति (कल्पमजरी) आदि उल्लेखनीय रचनाएँ प्राप्त है। वैसे रास और छोटी-मोटी टीकाएँ आदि मिलाकर लगभग २८ ग्रन्थ उपलब्ध है।

इस स्तोत्र की रचना स १६७५ मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी को लोद्रपुर (वर्तमान-लौद्रवा, जेसलमेर से ३ कोस) मे हुई है। लोद्रपुर पत्तन मे जिनेश्वर प्रसाद (जो जीर्ण हो गया था) का जेसलमीर निवासी शाह थाहरु ने जीर्णोद्धार करवाकर खरतरगच्छाचार्य जिनराजसूरि से इसी दिवस प्रतिष्ठा सम्पन्न करवाई थी। उसी के उपलक्ष मे उसी दिवस कवि ने इसकी रचना पूर्ण की है। ऐसा कमलस्थ बहि लेखन से प्रकट है।

उपर्युक्त दोनो चित्रकाव्यो से इसकी रचना-पद्धति भिन्न है। इसमे "म" को मध्यबिन्दु मे रखा है और अक्षरों के पश्चात् म का प्रयोग न करके प्रत्येक पाद के अन्त मे म का प्रयोग किय है। साथ ही प्रत्येक पाद के

प्रथमाक्षर का सयुक्त और मुक्तक रूप से स्वतन्त्र ही ३ पद्यो मे कवि ने रसास्वादन करवाया है। काव्य बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। इससे कवि की उच्च प्रतिभा का भी आभास प्राप्त होता है। इस काव्य में २५ पद्य यन्त्रस्थ है और एक पद्य प्रशस्ति रूप मे तथा ५ पद्य लोद्रपुर प्रतिष्ठा समय के सूचना देने और रचना का कारण बतलाने के लिये लिखे गये है जो यन्त्र के बाहिरी भाग मे उत्कीर्ण है।

यह शिलापट्ट आज भी लोद्रवा पार्श्वनाथ मन्दिर मे अवस्थित है।

प्रकाशन का इतिहास

मेरे शिरच्छत्र पूज्येश्वर गुरुदेव **श्रीजिनमणिसागरसूरिजी** महाराज का सं २००४ का चातुर्मास कोटा मे था। उस वर्ष मै **नेमिदूत** का सम्पादन कर रहा था। उस समय परमपूज्य गुरुदेव की यह अभिलाषा और आदेश था कि 'तू अपने गच्छ के स्तोत्र—साहित्य एवं छोटे—मोटे काव्यग्रन्थों का सम्पादन कर प्रकाश मे ला।' इसी विचार से प्रभावित होकर मैंने श्रीनाहटाजी को बीकानेर लिखा और नाहटाजी ने भी तत्काल ही इस ग्रन्थ की प्रेसकॉपी मुझे प्रकाशनार्थ भेज दी। वह प्रेसकॉपी पद्धति से नही की गई थी इसलिये नाहटाजी के द्वारा ही पूना से प्रति मगवाकर उसी वर्ष मैंने प्रेसकॉपी तैयार की। मुद्रणार्थ कॉपी को प्रेस मे देने का विचार था, परन्तु इस उच्चकोटि के

प्रति का आदिम पत्र

प्रतिका अन्तिम पत्र

काव्य ग्रन्थ के प्रकाशन मे अशुद्धि बाहुल्य न रह जाय (कारण कि उस समय मेरा ज्ञान साधारण ही था) अिस लिये कॉपी शुद्ध करवाने की दृष्टि से गणि श्रीवुद्धिमुनिजी म० को भेज दी गई। उन्होने भी अवकाश निकाल कर उसे शुद्ध करके वापिस लौटा दिया।

इसी बीच मे परीक्षाओ के निमित्त अध्ययन कार्य मे जुट गया। फलत प्रकाशन का कार्य बन्द हो गया। गत वर्ष मेरा चातुर्मास अहमदावाद था। परीक्षाओ के चक्र से विनिर्मुक्त हो चुका था। **वल्लभभारती** की प्रेसकॉपी वनाने मे सलग्न था। उस समय पुन इस स्तोत्र-काव्य की स्मृति आई, प्रकाशन के लिये हृदय लालायित हो उठा। श्रावक वर्ग को उपदेश देकर मुद्रण के लिये द्रव्य की व्यवस्था भी की और मुद्रणार्थ पुन. प्रेस कॉपी तैयार कर 'नवजीवन कार्यालय' को मुद्रणार्थ देदी।

प्रति-परिचय

प्रस्तुत अरजिनस्तव का सम्पादन करने मे हमे एक ही प्रति प्राप्त हुई है और वह भी 'भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्ट्रीच्यूट, पूना' से। यद्यपि प्रति के अन्त मे लेखक ने लेखन सवत नही दिया है किन्तु प्रति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यह रचना के कुछ समय पश्चात् ही लिखी गई है। प्रति प्राय शुद्ध है, परन्तु कई स्थलो पर काव्यस्थ शब्दों की टीका प्रमाद से रह गई है, तो कही लेखन मे अशुद्धि भी रह गई है,

जिसकी सूचना टिप्पणी मे दे दी गई है । प्रति के १५ पत्र है । प्रत्येक पत्र मे २१-२१ पक्तियाँ है और प्रत्येक पक्ति मे ६२-६५ अक्षर है । प्रति की दीर्घता १०।।। इच है, और पृथुता ४।।। इच है । प्रति अभी तक अच्छी हालत मे है ।

परिशिष्ट क—शतदल स्तोत्र का सम्पादन श्रीपूर्णचन्द्रजी नाहर के जैन लेख सग्रह भाग ३, और प लालचन्द्र भगवान् गान्धी द्वारा सम्पादित 'जेसलमीर भाण्डागारीय ग्रन्थानां सूचि' के आधार पर किया गया है ।

और परिशिष्ट ख सहस्रदलात्मक वीर स्तोत्र श्रद्धेय भाई-मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी महाराज से प्राप्त हुआ है । इसका एक ही पत्र है । किनारे खडित हो चुके है । पत्र भी जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हो रहा है । अनुमान है यह पत्र १७वी शती के अन्त मे अथवा १८वी के प्रारभ मे लिखा गया हो ।

आभार-प्रदर्शन :—

इस ग्रथ के प्रकाशन मे मुझे जिन जिन श्रद्धेय मनीषियो का और इष्टमण्डली का सहयोग प्राप्त हुआ है उसके लिये मै हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ । उनके सहयोग के विना इस काव्य-रत्न का प्रकाश मे आना ही मुश्किल था ।

सर्वप्रथम मै श्री अगरचन्द्रजी नाहटा को धन्यवाद देता हूँ जिनकी प्रेरणा से ही इस काव्य के सम्पादन का

विचार हुआ ओर सम्पादन के लिये समय–समय पर यथोचित मामग्री तथा परामर्श भी प्राप्त हुआ । दूसरे, गणिवर श्री वृद्धिमुनिजी महाराज का भी मै आभारी हूँ जिन्होने इसकी कॉपी को मेरे आग्रह पर शुद्ध कर भेजने का कष्ट उठाया । तीसरे, श्रद्धेय मुनिराज श्री पुण्यविजयजी म भी धन्यवाद के पात्र है जिन्होने सारे ग्रन्थ के प्रूफ देखने का कष्ट उठाया । चौथे, मेरे विद्यागुरु डा श्री फतहसिहजी एम ए डी लिट, का भी मै कृतज्ञ हूँ जिनके परामर्श से मुझे सम्पादन मे वडी सफलता मिली है ।

साथ ही भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्ट्रीच्यूट के क्यूरेटर श्री पी के गोडे को भी मै धन्यवाद दिये विना नही रह सकता, जिनकी कृपा से ही सम्पादनार्थ इस प्रति को ८ मास तक मै अपने पास रख सका ।

सूत्रधार एव आर्टिस्ट भाई श्री अमृतलाल सूलशकर त्रिवेदी भी धन्यवाद के पात्र है जिनने मेरे आग्रह को स्वीकार कर प्रेम से इस सहस्रदलकमल का चित्र बनाया । और अहमदावाद का खरतरगच्छ सघ भी धन्यवाद का भाजन है जिसने की इसके प्रकाशन के लिये द्रव्य की व्यवस्था की ।

श्रावणी अमावस्या २०१० — श्यामासूनु–
कोटा — विनयसागर

संकेतसूची

अ.	=	अभिधान चिन्तामणि नामकोष
अभि. चि. का.	=	अभिधान चिन्तामणि काण्ड
अ. चि. ना. वृ. प्र.	=	अभिधान चिन्तामणि नाममाला वृत्ति प्रशस्ति
अने. स. का.	=	अनेकार्थ सग्रह नाममाला काण्ड
अ. स्त. वृ. प्र.	=	अरजिनस्तव वृत्ति प्रशस्ति
ऐ. जै. का. स.	=	ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह
कवि. क.	=	कवि कल्पद्रुम
जे.	=	जेसलमीर भाण्डागारीय ग्रन्थाना सूची
दु. प्र.	=	दुर्गपदप्रबोध
दु. प्र. प्र.	=	दुर्गपदप्रबोध प्रशस्ति
ना.	=	जैन लेख सग्रह भा. ३ (नाहर)
पा. सि. कौ	=	पाणिनीय सिद्धान्त कौमुदी
र. स.	=	रचना सवत्
वि. ए.	=	विश्वशभु एकाक्षरी नाममाला
वि. त्रि.	=	विज्ञप्ति त्रिवेणी
वि. त्रि. प्र.	=	विज्ञप्ति त्रिवेणी प्रस्तावना
शी.	=	शीलोछनाममाला वृत्ति
शी. ना. टी. प्र.	=	शीलोछ नाममाला टीका प्रशस्ति
शे. स टी. प्र.	=	शेष सग्रह टीका प्रशस्ति
सि. हे.	=	सिद्ध हेम शब्दानुशासन
सि. हे. उ. सू.	=	सिद्ध हेम उणादि सूत्र
सु. ए.	=	सुधाकलश एकाक्षरी नाममाला
सौ. ए.	=	सौभरि एकाक्षरी नाममाला

स्वोपज्ञवृत्तिविभूषित:

श्री अरजिनस्तव:

(सहस्रदलकमलमय:)

अर्हम्

श्रीमज्जिनमणिसागरसूरिपादपद्मेभ्यो नमः

उपाध्यायप्रवरश्रीश्रीवल्लभोपाध्यायविहित :

स्वोपज्ञवृत्तिविभूषितः

श्रीअरनाथजिनस्तवः

(सहस्रदलकमलमयः)

———o———

[वृत्तिकारमङ्गलाचरणम्]

स्वकीयविद्यागुरुसत्प्रसादात्,
करोमि वृत्तिं स्तवनस्य चार्वीम् ।
अरं जिनं हर्षकरं प्रणम्य,
सहस्रपत्राम्बुजगर्भितस्य ॥१॥

तस्य चायमादिः—

असुरनिर्जरबन्धुरशेखर-
प्रचुरभव्यरजोभिर पञ्जिरम् ।
क्रमरजं शिरसा सरसं वरं,
जिन! रमेश्वर! मेदुरशङ्कर! ॥१॥

प्रवरवर्णरसागरचन्दिर!
जठररागरसाविरसङ्कर! ।
सुचिरकुञ्जरभीतरभङ्गर!,
कुरु रमं भरमामरहत्यर! ॥२॥

[युग्मम्]

व्याख्या -- हे 'जिन! हे तीर्थंकर' हे अरनाथ! तवेति शेष., 'क्रमरजं' रात्–जलाज्जात रज–कमलं, क्रम.–चरण',स एव रजं क्रमरज 'शिरसा' मस्तकेन [वन्दे] इत्यध्याहार्यम् । किम्भूतं क्रमरज? 'पञ्जिरम्' पीतम्, कै? 'असुरनिर्जरबन्धुरशेखरप्रचुरभव्यरजोभि.' असुरा'–असुरकुमारा: निर्जरा.–वैमानिकत्रिदशास्तेषा ये बन्धुरशेखरा:–मनोहरापीडास्तेषा यानि प्रचुरभव्यरजासि–बहुलचारुपरागास्तै: । 'अ' पादपूरणार्थमव्ययम् । पुन: किम्भूत क्रमरज? 'सरस' रसयुक्तम् । पुन: किम्भूत क्रमरज? 'वर' प्रधानम् । किम्भूत हे जिन!? 'रमेश्वर!' लक्ष्मीनाथ! । पुन. किम्भूत जिन!? 'मेदुरशङ्कर!' प्रमोदेन मेद्यन्तीत्येवशीला: "भञ्जिभासिमिदो घुर" [सि हे ५।२।७४] इति घुर:, मेदुरा.–प्रमोदपिच्छिलास्तान् प्रति श–सुख करोतीति मेदुरशङ्करस्तस्यामन्त्रणम् ॥ १ ॥

हे आमरहत्यर! "रह त्यागे" "इकिस्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे. ५।३।१३८] इति तिवि रहति–त्यजनं, आमाना–रोगाणा रहतिर्यस्य यस्माद्वा आमरहति:, स चासौ अर–अरजिनस्तस्यामन्त्रण हे आमरहत्यर! त्व 'रम भर' प्रधान पोषण 'कुरु' विधेहि । किम्भूत हे आमरहत्यर!? 'प्रवरवर्णर-

सागरचन्दिर! ' प्रवरा –प्रकृष्टा ये वर्णा –शौर्यगाम्भीर्यादयो गुणा., यदुक्त हेमसूरिभि.—

—"वर्ण. स्वर्णे मखे[1] स्तुतौ ।
रूपे द्विजादौ शुक्लादौ, कुथायामक्षरे गुणे ।।"

[अने स कां. २ श्लो १६६]

इति, त एव राणि–रत्नानि "र रत्न रोदन धनम्" [सौ ए श्लो ८३] इति वचनात्, तेषा सागर –समुद्रस्तस्याह्लाददायकत्वात् चन्दिर इव–चन्द्रमा इव य स सम्बोध्यते । किम्भूत त्व ? 'जठररागरसाविः' जठर –कठिन. "जठर कुक्षिबद्धयो., कठिने [च]" [अने. सं का ३ श्लो. ११५६] इत्युक्तेः, प्रस्तावाद् दृढोऽत्यन्तकरणादयो रागरस –नर्म्म तस्य आवि –व्रजनं यस्मात् स तथा, "स्यात्तु नर्मणि, सुखोत्सवो रागरस." [शेष स. श्लो ११५] इति शेष । पुन किम्भूत हे आमरहत्यर! ? 'असङ्गर!' सङ्ग्रामरहित! । पुन किम्भूत आमरहत्यर! ? 'मुचिरकृन्नरभीतरभद्रर! ' मुचिर–धर्मं कुर्वन्तीति मुचिरकृतस्ते च ते नराश्च मुचिरकृन्नरास्तेषां भीतरभद्रे–भयेतरमङ्गले राति–ददाति य. स तथा स सम्बोध्यते । यदुक्तमुणादिवृत्त्याम्—"मुचिरो धर्मं सूर्यो मेघश्च" [सि हे. उ सू ४१६] ।।२।।

प्रदरपार्परदन्तुरभूधर-
भिदुरतुल्य! रसासर! कं कर ।
कुनरकाकरदादरकस्वर!
विदुरजेसरभक्तरमुत्कर! ।।३।।

---

१. "व्रते" इति मुद्रिते ।

व्याख्या--हे 'रसासर !' रसायां—वसुन्धराया सरति—गच्छति रसासर —पुमान् तत्सम्बोधन हे रसासर ! हे पुरुष ! हे अर ! त्व 'क' सुख 'कर' कुरुष्व । "कृञ् कृतौ" इति धातोराशी प्रेरणयोर्हिरूपम् । अथ सम्बोधनविशेषणयोर्विशेष्यते--किम्भूत हे रसासर ! ? 'प्रदरपार्परदन्तुरभूधरभिदुरतुल्य !' प्रदरा:—रोगा महाव्रणादय "प्रदर: शरे ।। भङ्गे रोगे" [अने सं. का. ३ श्लो ११७२-७३] इति वचनात्, पार्पर —यम: कालरूप: "पार्परो भस्मनि यमे" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११७६] इति वचनात्, तेषा द्वन्द्वे प्रदरपार्परा:, त एव दन्तुरभूधरा —विषमपर्वता. "दन्तुर', उन्नतदन्ते विषमे" [अने. सं का. ३ श्लो ११६३] इत्युक्ते', तेषां भञ्जने भिदुर—वज्र तत्तुल्य —तत्समानो य' स तथा स सम्बोध्यते । पुन किम्भूत रसासर ! ? 'कुनरकाकरदादरकस्वर !' कु:—कुत्सित: नरक'—निरय. कुनरकस्तस्मिन् यत् अक—दु.ख तद् रदन्ति—उत्पाटयन्ति ये ते कुनरकाकरदास्तेषु आदर—पूजाविशेष "कस गतौ" कसतीत्येवशीलो य. स:, "स्थेशभासपिसकसो वर."[सि हे ५।२।८१।] इति वर:, कुनरकाकरदादरकस्वर: तत्सम्बोधनम् । पुन' किम्भूत रसासर! ? 'विदुरजेसरभक्तरमुत्कर! ' विदुरेषु—धीरेषु जेसरा —शूरा' "जेसर' शूर." इत्युणादौ [सि हे उ सू ४३९] विदुरजेसरा , ते च ते भक्तराश्च—भक्तनरास्तेषा मुत्कर'—हर्षकरो य: स तथा, स सम्बोध्यते ।।३।।

मुहिरगर्वरदुर्द्धरसिन्धुर-

विशरणाकरसिंहरहोऽगरम् ।

चतुरनं जरसाऽधरमं स्मर,
शिवरमं वरसंवरबुद्धिरम् ॥४॥

व्याख्या — हे जन ! इति पदमध्याहार्यम् । त्व 'अ' अर्हन्त अरनाथलक्षण 'स्मर' मनसि चिन्तय । किंविशिष्ट अ ? 'मुहिरगर्वरदुर्द्धरसिन्धुरविगरणाकरसिहरहोऽगरम्' मुहिर.-काम: "मुहिरो मूर्खकामयो." [अने स का ३ श्लो ११६५] इति हेमाचार्या:, तस्य यो गर्वर –अहङ्कार , यदुक्तमुणादौ— "गर्वरोऽहकार· [महिषश्च]" [सि हे उ सूत्र ४४१] स एव दुर्द्धरसिन्धुर – उत्कटमातङ्गस्तस्य विगरण—व्यापादन तस्य आकर –समन्ताद् विधान तत्र सिंह इव—व्याघ्र इव य स मुहिरगर्वरदुर्द्धरसिन्धुरविगरणाकरसिह , रह –अज्ञान तद् न गृणाति—न शब्दयति य: स रहोऽगर·, "गश् शब्दे" द्वाभ्या कर्मधारये मुहिरगर्वरदुर्द्धरसिन्धुरविशरणाकरसिंहरहोऽगरस्तम् । पुन: किम्भूत अ ? 'चतुरन' चतुरा –विद्वासो ना·–नरा यस्य स तथा तम् । "नो नरे" [वि ए ७६] इति विश्व: । पुन: किम्भूत अ ? 'जरसाऽधरम्' जरसा—वृद्धत्वेन अधर—हीन रहित-मित्यर्थ· । "[1]अधरोऽन्तर्द्धिहीनोष्ठेषु" [अने स का ३ श्लो. १११७] इति वचनप्रमाणात् । पुन. किम्भूत अ ? 'शिवरम' शिवे—मुक्तौ रमते य स तथा तम् । पुन किम्भूत अ? 'वरसवर-बुद्धिर' "वृ वरणे" वरन्ति धर्मश्रिय इति वरा·—श्रावकास्तेषां सवरबुद्धी:—वैराग्यमती राति—प्रयच्छति य स तथा तम् ॥४॥

---

१ अधरोऽनूर्ध्वहीनोष्ठेषु" इति मु०

सुहीरसच्चीरविहारसीवर-
प्रतारसाधारणकारवार्दर! ।
जनौर! निर्मेरणधोरणीस्फिरं,
मनोरमास्वारवतो रतक्षर! ॥५॥

व्याख्या—हे 'अ!' जिन! तवेति शेष:, 'निर्मेरणधोरणीस्फिर' निर्मेराश्च–निर्मर्यादा ये णाश्च–प्रस्तुता ये ते निर्मेरणा–गुणास्तेषां धोरणी–श्रेणि गुणावली स्फिर–वृद्धि प्राप्नोतीति शेष । कस्मात्? 'मनोरमास्वारवत.' मनसा रमन्ते इति मनोरमा:– पण्डितास्तेषु आ–समन्तात् स्वारव:–प्रधानशब्दस्तस्मात् । निर्मेरणधोरणी किंविशिष्टा? 'सुहीरसच्चीरविहारसीवरप्रतारसाधारणका' सुहीर:–प्रकृष्टहीर: विशेषशुभ्रत्वात्, सच्चीर–प्रशस्तवासोविशेष, विहार:–विशिष्टमुक्तावली, सीवर–समुद्र: प्रस्तावात् क्षीरसमुद्र., प्रतार–निर्झररूप, एषा द्वन्द्वे सुहीरसच्चीरविहारसीवरप्रतारा, तेषा साधारण एव–समाना एव ग्राह्यतया, स्वार्थे क. । किम्भूत हे अ! ? 'आरवार्दर!' आराणि–देवसमूहास्तेषु वार्दर–वचन धर्मरूप यस्य स तथा, तत्सम्बोधनम् । "वार्दर कृमिजे जले ॥ काकचिम्व्याश्वबीजे वाग्दक्षिणावर्त्तशङ्खयो. ।" [अने. स. का. ३ श्लो. १२००,१२०१] इति हैमानेकार्थवचनात् । पुन: किम्भूत अ!? 'जनौ.!' जनान्–लोकान् अवति–प्रीणयति य स तथा तत्सम्बोधनम् । पुन किम्भूत [अ!]? 'रतक्षर!' रतात्–सम्भोगात् क्षरति–चलति य: स तथा, तत्सम्बोधनम् ॥५॥

डमरदुर्ज्वरतस्करभीभर-
प्रहरणाविरहः किरताद् दरम् ।
सुकुरतीर्णरदस्वरधीघरः
प्रसरकीर्त्तिरजाहरनिर्दरः ॥६॥

व्याख्या—'प्रसरकीर्त्ति' "सृ गतौ" प्रसरति–सर्वत्रविस्त-रयति या सा प्रसरा, एवविधा कीर्त्ति–यशो यस्य स प्रसर-कीर्त्ति.–अरनाथ 'दर' भय 'किरतात्' क्षिपतात् । किंविशिष्टः प्रसरकीर्त्तिः? 'डमरदुर्ज्वरतस्करभीभरप्रहरणाविरह' दुष्टो ज्वर. दुर्ज्वर तस्करा–चौरा भीभरो–भयवृन्द प्रहरण–युद्ध, एपा द्वन्द्व. दुर्ज्वरतस्करभीभरप्रहरणानि, डमराणि–भीष्मानि दुर्ज्वरतस्करभीभरप्रहरणानि, तेषा अ [?आ] विरह–समन्ता-द्विरहो यस्य स तथा । पुन किम्भूत प्रसरकीर्त्ति? 'सुकुरतीर्णर-दस्वरधीघर' "कुरत् शब्दे" अलन्त, सुकुरेण–समस्तजनप्रिय-त्वात् विशिष्टशब्देन तीर्ण–अभिभूतो रदस्वरो धी–बुद्धिस्त-स्या घर–गृह धीघर, द्वयो कर्मधारये सुकुरतीर्णरदस्वर-धीघर । "हने रन् (त्)घ च" हन्ति हन्यते । "घरो गृहमिति प्रासादे"। पुन किंविशिष्ट प्रसरकीर्त्ति? 'अजाहरनिर्दरः' अज–नित्य. न हरतीति अहर., स चासौ निर्दर–निर्भयो यः स, त्रयाणा कर्मधारय. ॥ ६ ॥

चकार हिंसीरविशारणं गिरः,
उदारसम्भारसुधीरकेकरः ।
अमारमन्दारसमीरकन्धर-
प्रकार आचारविदीरनीवरः ॥७॥

व्याख्या—'उदारसम्भारसुधी' उदारा:—दातारस्तेषां सम्भार:—गण: "सम्भार: सम्भृतौ गणे" [अने. स. का. ३ श्लो. १२१६] इत्युक्ते:, तेन सुष्ठु ध्यायते य स उदारसम्भारसुधी:—श्रीअरनाथजिन: 'हिसीरविशारण' हिसीरा:—हिंस्रा प्रकरणात् कर्माणि तेषा विशारण—व्यापादन हिसीरविशारण कर्मनाशं 'चकार' कृतवान् । किम्भूत उदारसम्भारसुधी.? 'गिर' "गॄ निगरणे" गिरतीति गिर· "नाम्युपान्त्यप्री-कृ-गॄ-ज्ञ. क"[सि हे. ५।१।५४] इत्यनेन कप्रत्यय । पुन किम्भूत उदारसम्भारसुधी ? 'अकेकर:' न केकर. अकेकर —अवक्रदृष्टिरित्यर्थ । पुन. किम्भूत उदारसम्भारसुधी ? 'असारमन्दारसमीरकन्धरप्रकार' मार —कन्दर्प· न मार.—अमार, नञ्शब्दस्य कुत्सार्थत्वाद् अमार —कुत्सितकन्दर्प, स एव मन्दार —मन्दारवृक्षस्त समीरयति—सम्यक् प्रेरयति य. स अमारमन्दारसमीर, कन्धर —जलदस्तत्प्रकार.—तत्समानो दानेनेति गम्यते य· स कन्धरप्रकार, द्वाभ्या कर्मधारये अमारमन्दारसमीरकन्धरप्रकार । पुन किम्भूत उदारसम्भारसुधी ? 'आचारवित्' आचार वेत्तीति स तथा । पुन· किम्भूत उदारसम्भारसुधी ? 'इ' दीप्त "इल् कान्तौ" क्विबन्त, ईरयति—क्षिपति पापमिति वा ईर्, "ईरण् क्षेपे" क्विबन्त., पापनाशक इत्यर्थ । पुन. किम्भूत उदारसम्भारसुधी ? 'अनीवर' न विद्यते नीवर —पुरुषाकारो यस्य स तथा, सिद्धत्वात्, उणादिकोऽयम्, "णीङ् प्रापणे" नीमीकुतुचेर्दीर्घश्च"[सि हे उ. सू ४४३] इत्यनेन वरट् प्रत्यय, "नीवर पुरुषाकार:" ।।७।।

विभोरमोमोरमगोरगोचर-

विकारसंहारकरोरडिङ्गर: ।

जहार कण्ठीरववारसत्तर!,
स वीरकः स्मेरमुखो रसातिरम् ॥८॥

व्याख्या—हे 'कण्ठीरववारसत्तर!' कण्ठीरवाना–सिहाना वार–निवारण तस्मिन् सत्–प्रशस्त तर–बल यस्य स कण्ठीरववारसत्तर! हे सुहृत्!, स 'वीरक' वीर एव वीरक.–सुभट· अरनाथजिनो 'जहार' अपनयति स्म। कि तत्? 'अ' व्याधि "अ मान्तो ब्रह्मसवादे, परब्रह्मप्रवाचक। व्यसने व्याधिते व्यार्धा" [वि ए १९] इत्युक्ते। स क? यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धाद् यस्माद्विभो–स्वामिन 'अमोमो' हर्षं कृतवान्। क? 'अडिङ्गर' न विद्यन्ते डिङ्गरा–दासा यस्य स अडिङ्गर. प्रकरणात् साधुजन। किम्भूताद्विभो? 'अमगो' न विद्यते मा–मान येषा ते अमा–निष्प्रमाणा गाव–दीप्तयो यस्य स अमगुस्तस्मात्तथा। पुन किम्भूताद्विभो.? 'अगोचरविकारसहारकरो' न गोचरो यस्मिन् स अगोचर–अलक्ष्य इत्यर्थ, "विकारो विकृतौ रोगे" [अने स का ३ श्लो १२०३] इति वचनात्, विकाराणा–रोगाणा सहार–विनाश करोतीति विकारसहारकरः, अगोचरश्चासौ विकारसहारकरश्च अगोचरविकारसहारकर·, एवम्भूत आ–धर्मो यस्य स अगोचरविकारसंहारकरास्तस्मात्तथा। "ऋशब्द· पावके सूर्ये धर्मे" [ए श्लो ११] इति विश्वशम्भुवचनप्रामाण्यात्। किम्भूतो वीरक? 'स्मेरमुख' स्मेर–विकस्वर मुख यस्य स तथा। पुन किम्भूतो वीरक? 'रसाति' रस्य–धनस्य "र रत्न रोदन धनम्" [सौ. ए. श्लो ६३] साति–दान यस्य स तथा, "षणूयी दाने" इति धातो. क्तिप्रत्यये रूपम् ॥८॥

भ्रमरवृत्तिरनन्तरमक्षरं,
　　वितर मे ह्यरणः सुरकन्नर! ।
इषिरवागरभन्दरचत्यरः,
　　कमरतामरसाक्षिरमाधरः ॥९॥

व्याख्या—हे 'सुरकन्नर!' सुराणां—देवाना क—सुखं नरयति—नयति य. स सुरकन्नरस्तस्यामन्त्रणं हे सुरकन्नर!, "नॄ नीतौ" अजन्त·, हे अरजिन! 'मे' मम 'अक्षर' मुक्ति 'वितर' प्रयच्छ । 'हि' इति निश्चये । किम्भूतं अक्षर? 'अनन्तर' न विद्यन्ते अन्तराणि—रन्ध्राणि यस्मिँस्तत्तथा तत् । किम्भूतस्त्वम्? 'भ्रमरवृत्ति.' भ्रमर.—मधुकरस्तद्वद् वृत्ति —वर्त्तन यस्य स तथा । पुनः किम्भूतस्त्व? 'अरण·' सङ्ग्रामहीन, शत्रूणामभावात् । पुनः किम्भूतस्त्व? 'इपिरवागरभन्दरचत्यर.' इषिरा·—सेव्याः, यदुक्तमुणादिवृत्त्या — "इषिर. अग्निः आहार. क्षिप्र. सेव्यश्च" [सि. हे. उ. सू ४१६] इति, वागरा.—विद्वांसोऽन्तिपद, यदुक्तं हैमानेकार्थे —

"वागरो वारके शाणे, निर्नरे वाडवे वृके ॥
मुमुक्षौ पण्डिते चापि, [परित्यक्तभयेऽपि च] ।"
　　　　[अने. सं. कां ३ श्लो. ११९९, १२००]

इति, इषिराश्च ते वागराश्च इपिरवागरास्तेषां भन्दरचति—भद्ररचन[1] इयर्त्ति यः स तथा, "रचण् कृत्या" "इकिस्तिव् स्वरूपार्थे" [सि हे ५।३।१३८] इति तिवि सिद्धम् । पुन· किम्भूतस्त्वं? 'कमरतामरसाक्षि:' कमर—कोमल "कमरो मूर्ख. कार्मुक

---

१ "भन्द कल्याणे सौख्ये च" [अने स. का. २ श्लो २४३]

कोमल चौर [कान्त]श्च" [सि हे उ सू ३९७]इति हैमोणादि-वृत्तिवचनात्, यत्तामरस—पद्म ततुल्ये अक्षिणी—नेत्रे यस्य स तथा । पुन. किम्भूतस्त्व ? 'अमाधर·' न मा अमा—अमाया ता धरति य. स तथा । "मा माया" इति गोपालभट्टीवचन-प्रामाण्यात् ॥९॥

चटरविघ्नरवैरिरसाहरः,
स्वतरसा स्परणं करताद् गरः ।
सुनर आदरतः स्मरतीदरः,
स विरसः सरलस्वरणस्तरः ॥१०॥

व्याख्या —- 'स' अरनाथजिन 'स्परण' रक्षण 'करतात्' क्रियात् । "स्मृ स्पृ प्रीतिरक्षाप्राणने" अनट्प्रत्ययान्त. । किम्भूत. सः? 'स्वतरसा' स्वबलेन-स्वकीयवीर्येण 'चटरविघ्नरवैरिरसाहर' चटरा·—तस्करा·, "चटण् वेष्टने" उणादिकोऽरप्रत्यय , चटर — तस्कर विघ्न—उपद्रव रातीति विघ्नरा ते च ते वैरिणश्च विघ्न-रवैरिण , चटराश्च विघ्नरवैरिणश्च चटरविघ्नरवैरिणस्तेषा "र तीक्ष्णे कर्कटे दृढे" [वि. ए. १०१.] इत्युक्ते रा—दृढा या सा—लक्ष्मीस्तस्या हर —हरण यस्य स तथा । किम्भूत स ? 'गर' "गृ घृ सेके" गरति—भविकजन देशनाजलेन सिञ्चति य स तथा । स इति क ? य 'सुनर' शोभनपुमान् 'आदरत.' आदरात् 'स्मरति' ध्यायति, जातावेकवचनम् । पुन. किम्भूत स ? 'इदर' [इ —]कामस्त द्रुगिहन्निथि (?) दृणाति य स तथा । पुन· किम्भूत स ? 'विरस·' विगतरस । पुनः किम्भूत. स. ? 'सरलस्वरण.' सरला.—अकुटिलास्तेपु स्वरण—अतिशयेन गमन

यस्य यस्माद्वा स तथा । पुनः किम्भूत· स· ? 'तर:' तरति दुस्तरं ससारसागरमिति स तथा ॥१०॥

सुचरणं चरतः किरतः करं,
प्रहरतः करणं धरतः सुरम् ।
व्रतरतश्चिरमाशरणाङ्गरः,
सुनुरकं क्षुरतादुरगादरः ॥११॥

व्याख्या—'अर.' अरजिनः 'अक' दु.ख 'क्ष-[? क्षु]रतात्' छिन्द्यात् । कस्मात्? 'उरगात्' उरग.—सर्पस्तत्प्रायत्वाद् उरगः ससारस्तस्मात् । कस्य ? 'सुनु ' श्रावकस्येति यावत् । किम्भूतस्य सुनु·? 'सुचरण' सुष्ठु चारित्र देशविरतिलक्षण 'चरत ' सेवमानस्य । पुन. किम्भूतस्य सुनु ? 'कर' "कृञ् वधे" अलन्त·, कर—वध 'किरत:' क्षिपतस्त्यजत इति यावत् । पुन. किम्भूतस्य सुनु·? 'करण' इन्द्रिय प्रहरत· । पुन. किम्भूतस्य सुनु ? 'सुर' सुष्ठु रा—दीप्तिर्यस्य स सुरस्तं सुर—जिन 'धरत.' बिभ्रत·, मनसीति गम्यम् । पुन. किम्भूतस्य सुनुः? 'चिर' चिरकाल 'व्रतरत.' व्रतानि द्वादशसङ्ख्याकानि, तेषु रमते इति व्रतरत् तस्य, "गमा क्वौ" [सि हे ४।२।५८] इति सूत्रेण क्विपि सिद्धम्। अकार. पादपूरणार्थः । किम्भूतोऽर ? 'अशरणाङ्गरस्' "शृश् हिसने" अनट्प्रत्ययान्त , न विद्यते शरण—हिसन येषां श्रवणात् तानि अशरणानि, एवम्भूतानि यानि अङ्गानि—आचाराङ्गाद्येकादशाङ्गानि तानि, "रस् शब्दे" क्विबन्त , रसति—शब्दायते यः स तथा ॥११॥

धीरैरमारिरमृतं रडामरं
सभ्यैरभाणि रसनं रतान्तरम् ।
उच्चैरभीतिरनगारशिशिरः,
पातूरनूतिरनपूरघृष्टिरम् । ।।१२।।

ललिता-छन्दः[१]

व्याख्या—स इति पदमध्याहार्यम् । 'अनगारशिशिरः' न विद्यते[२]अगारं—गृह येषां ते अनगारा—साधवस्तेषा शिशिरः—पुञ्जो यस्मिन् सोऽनगारशिशिर—श्रीअरनाथतीर्थकरः 'पातु' रक्षतु । क ? 'अ' जन "अः कृष्ण शङ्करो ब्रह्मा, शक्र सोमोऽनिलोऽनल । सूर्य प्राणो जनः" [सौ ए. २] इति सौभरि-वचनात्। स क ? यस्य 'रसन' ध्वनित "रसन ध्वनिते"[अने सं. का. ३ श्लो. १००१] इति वचनात् । 'अमृत' सुधासम 'उच्चै' अतिशयेन 'अभाणि' कथित, अमृतमपि सर्वजनतुष्टिपुष्टिकर तथेदमपि। कैः ? 'धीरै.' विद्वद्भि । किम्भूतै. धीरै ? 'सभ्यै' सभायोग्यै । किम्भूत रसन? 'रडामर' "रय गतौ" "क्वचित्" [सि हे पा ५।१।७१]ड इति,रयन्ते-तीर्थकरविलोकनादपि नष्ट्वा यान्ति ये ते रा.—दौर्भव्यास्तेषा डामरं—भयङ्करं यत्तत्तथा तत् । पुन किम्भूत रसन ? 'रतान्तर' रताना—वचनश्रवणाऽऽसक्ताना अन्तर—अवधिर्धर्ममर्यादा यस्मात्तत्तथा तत् ।

"अन्तर रन्ध्रावकाशयो ।।
मध्ये विनार्थे तादर्थ्ये विशेषेऽवसरेऽवधौ ।"
[अने स. का ३ श्लो १११४—१११५]

---

१ "धीरैरभाणि ललिता तभौ जरौ" ३।५७ इति वृत्तरत्नाकर. ।

२ "स्यादागारमगारवत् ।" शब्दरत्नाकर का ४श्लो ३६

इति हेमसूरय : । किम्भूतोऽनगारशिशिर. ? 'अमारि.' न विद्यते मारि –मरण यस्मिन् स तथा । पुन किम्भूतोऽनगारशिशिर· ? 'अभीति.' निर्भय. । पुनः किम्भूतोऽनगारशिशिर. ? ' 'ऊ' निशाकरः, तद्वदाह्लादकत्वात् । "ऊ परेतो जडत्वष्टा, विवस्वानग्निसारथि· । वह्निर्निशाकर" [सौ. ए ७] इति वचनात् । पुन· किम्भूतोऽनगारशिशिर ? 'अनूति.' न विद्यते नूति.–स्तवन अन्येषा देवाना यस्मिन् स तथा, अस्तोता इत्यर्थ. । पुनः किम्भूतोऽनगारशिशिर ? 'अनपू.' "पुरस् अग्रगमने" क्विपि पू.–अग्रेसर·, न पू· अपू , न अपू· अनपू , अग्रेसर इत्यर्थ । पुनः किम्भूतोऽनगारशिशिर· ? 'अघृष्टिः' न विद्यते घृष्टि.–स्पर्द्धा यस्य स तथा, "घृष्टि स्पर्द्धाघर्षणयो." [अने स. कां. २ श्लो. १०३] इति हैमानैकार्थोक्ते. ।। १२ ।।

अररतात् परणं जरणं भर-
भररहच्च र आभरपा खरः ।
नघरणं शरणं वरताद् घुरः,
सुखरयोऽमरदो मरतस्वरः ।।१३।।

द्रुतविलम्बितच्छन्दः[१]

व्याख्या—स इति पदमध्याहार्यम् । 'सुखरय.' सुखस्य रयः–प्राप्तिर्यस्मात् सुखरयः–श्रीअरनाथजिन·' 'शरण' त्राण–रक्षण 'वरतात्' व्रियात् । कथम्भूतं शरण ? 'नघरण' "घृ-भासि" अनटि घरण, नाना–नराणा घरण–भासनं यस्मात्तत् तथा तत्, "नो नरे च सनाथेऽपि" [वि ए ७६] इत्युक्तेः। कस्य ?

१ "द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" [३।४८] वृत्तरत्नाकर· ।

'र' "रा दानाऽऽदानयो" इत्युक्ते. राति–पञ्चमहाव्रतभार गृह्णाति य स रास्तस्य र.–साधो, जातावेकवचनम्। स क? य. 'परण' "पृट् प्रीतौ" अन्प्रत्यय, परण–प्रीति 'अररतात्' अनिर्मापयत्। 'च' पुनरर्थे, य 'जरण' न्यक्कार 'अररहत्' अत्यजयत्। कथ? 'भरम्' अतिशयेन, केन? 'आभरपा' आ–लक्ष्मी विभर्त्ति–पुष्णाति योऽसौ आभर, पाति–ससारदु ख-जरामरणतो जगत्त्रय रक्षति योऽसौ पा –धर्म, आभरश्चासौ पाश्च आभरपास्तेन आभरपा। किम्भूत सुखरय? 'खर' धर्मव्यवहारपटु "सत्यसन्ध खरो ज्ञेय, खरोऽपि पुरुषो मत। खरो रासभ इत्युक्तो, व्यवहारे पटु खर· ॥१॥ इति **ध्वनि-मञ्जर्याम्**। पुन· किम्भूत. सुखरय? 'घुर' "घुरश् ध्वनौ भीमार्थे" अजन्त, घुरति–शब्दयति स्याद्वादमिति असकौ तथा। पुन किम्भूत सुखरय? 'अमरद' "अम रोगे" अमा–रोगास्तान् "रद विलेखने" रदति योऽसौ तथा। पुन किम्भूतः सुखरय·? 'मरतस्मर' मरता–प्राणिन., यदुक्तमुणादौ—"मरत· मृत्यु अग्नि प्राणी च" [सि. हे उ सू. २०७] इति तै· स्मर्यते य स तथा ॥१३॥

चुकोर भट्टारकपौरयोः पुरः,
शमारवाहारमदौरघर्घरः।
कठेरकान्तारसुवारणस्थिरः,
कठोरकालूरविदारसायुरः ॥१४॥

व्याख्या—'अघर्घर' न विद्यते घर्घर.–हास्य यस्याऽसौ अघर्घर.–श्रीअरनाथजिन 'शमारवाहार' श–सुख [त]स्य 'आर:' प्रापण यस्मात् स शमार, ऊ–रक्षा "ऊ· शब्दो रक्षणे" इति

[1] **विश्वशम्भूक्तेः**, त आहारयति–आनयति यः स वाहारः–धर्मः, शमारश्चासौ वाहाराश्च शमारवाहारस्त शमारवाहारं–धर्मं 'चुकोर' कथयाञ्चकार, "कुरत् शब्दे" इत्यस्य परोक्षायां णपि रूपम् । क्व ? 'पुरः' अग्रे, कयो ? 'भट्टारकपौरयो' भट्टारकाः–पूज्याः प्रस्तावाद् गणधरा देवा वा, पौरः–नागरः, भट्टारकश्च पौरश्च भट्टारकपौरौ तयोः, अत्र जातावेकवचनम् । किम्भूतोऽघर्घरः ? 'अदौ' न दुनोति जनान् विचि अदौः । पुनः किम्भूतोऽघर्घरः ? 'कठोरकान्तारसुवारणस्थिरः' कठोरः–दरिद्रः भावप्रधाननिर्देशात् कठोरः–दारिद्र्यम्, उणादिकोऽयं शब्दः, स एव कान्तारः–वन[तत्र]सुवारणाः–शोभनगजास्तेष्वपि स्थिरः–दृढो यः सः सुवारणस्थिरः, तद्भञ्जने सुवारणस्थिर इव सुवारणस्थिरो यस्य[? यः स] तथा । पुनः किम्भूतोऽघर्घरः ? 'कठोरकालूरविदारसायुः' कठोरं–दृढं कं–दुःखं येषां ते कठोरकाः, "कं शिरः कं सुखं तोयं, पयो दुःखम्" [सौ ए २०] इत्युक्ते, कठोरकाश्च ते आलूराश्च–विटाः कठोरकालूरास्तेषां विगतो दारः–भयं यस्मात् स कठोरकालूरविदारः, आलूरशब्दः उणादिर्विटवाची, सायाः–लक्ष्म्याः आयुः–जीवनं यस्मात् सायुः, द्वाभ्यां कर्मधारये कठोरकालूरविदारसायुः, "इण्क् गतौ" "कृवापाजिस्वदिसाध्यशौ[ट]स्नासनिजानिरहीण्भ्य उण्" [सि हे. उ. सू. १] इति सूत्रेण उण् प्रत्यये आयुरिति, "पुरुषः शकटं औषधं जीवनं पुरुरवः पुत्रो वा" इति । अकारः पादपूरणार्थः ॥१४॥

---

१ उद्धरणमिदं विश्वशम्भुप्रणीतैकाक्षरनाममालायां "ऊः–रक्षार्थवाचकः ॥११॥" इति रूपेण विद्यते ।

विज्ञैरमानैरसितैरकारि र-
मर्च्यैरनाकैरहतैररुड्भिर।
देवैरसानैरसनैरसंहर!
लक्ष्मी ररौ धीरकुटेर! सोऽध्वरः ॥१५॥

व्याख्या—हे 'अकुटेर!' कुटेर—शठ, न कुटेर अकुटेरस्तत्सम्बोधन हे अकुटेर!—हे पण्डित! 'स' अरजिन 'लक्ष्मी' श्रिय 'ररौ' ददौ। किम्भूत स ? 'धी' "ध्यै चिन्तायाम्" ध्यायतीति क्विपि धी, ध्यातेत्यर्थ। पुन किम्भूत स ? 'अध्वर.' "ध्वृ कौटिल्ये" न ध्वरति य स तथा। स क ? यस्य 'विज्ञै' विद्वद्भि 'र' "रै शब्दे" डे प्रत्यये रायते—शब्दयते जनैरिति गुणगान 'अकारि' कृतम्। किम्भूतैर्विज्ञै ? 'अमानै' निरहङ्कारै। पुन किम्भूतैर्विज्ञै ? 'असितै' अबद्धै। पुन किम्भूतैर्विज्ञैः? 'अहतै' अवधकस्य 'अर्च्यै' अर्चनीयै। पुन किम्भूतैर्विज्ञै ?'अनाकै' "अन प्राणने" अनन्ति—जीवन्तीति अना—प्राणिनस्तेषा आ—समन्तात् क—सुख येभ्यस्ते अनाकास्तै। पुन किम्भूतैर्विज्ञै ? 'अरुड्भि' न विद्यते रुट्—ईर्ष्या येषा ते अरुषस्तै। अत्राकार सम्बोधनार्थमव्ययम्। पुन किम्भूतैर्विज्ञै ? 'देवै' "दिवु क्रीडाविजगीषाव्यवहारद्युतिस्तुति [मोदमदस्वप्नकान्ति] गतिषु" इति वचनात्, दीव्यन्ति—स्तुवन्तीति देवास्तै, स्तोतृभिरित्यर्थ। पुन किम्भूतैर्विज्ञै ? 'असानै' "षोच् नाशे" अनटि सानम्, न विद्यते सान—नाशो येषा ते असानास्तै। किम्भूत हे अकुटेर!? "पण् सम्भक्तौ", "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सिहे ५।३।१३८] इति इप्रत्यये सनि—भक्ति, न विद्यते सनिर्यस्य

स असनिस्तस्य असने–अभक्तस्य 'असहर' न विनाशक।, निरीर्ष्यत्वाद् भक्ताभक्तयोरुपरि समचेता ॥१५॥

ववार लक्ष्मीररतीरधीश्वरः,
समौरकण्डूरसुधीरकट्वरः ।
सुधारभृत्पूरतुषारदीप्तिरः,
सुनारशौण्डीरकुटीरतुष्टिरः ॥१६॥

व्याख्या—'अधीश्वर' श्रीअरनाथजिन. 'लक्ष्मी' श्रीः 'ववार' वृतवान् । लक्ष्मीरित्यत्र वहुवचन नानाप्रकारत्वात् सङ्गतमेवेति । किम्भूतोऽधीश्वर ? 'अरती' अरति–असुखता एति–क्षिपति योसौ तथा, "इण् क्षेपे" क्विबन्त । पुन. किम्भूतोऽधीश्वर. ? 'समौ' सह मया–लक्ष्म्या वर्त्तन्ते ये ते समास्तै. अवति–वर्द्धते य· स तथा, अत्र अवधातुर्वृद्ध्यर्थो ज्ञेय । पुन· किम्भूतोऽधीश्वर ? 'अकण्डूरसुधी' न कण्डूरा· अकण्डूरा·–अकण्डूमन्त सुधिय–पण्डिता यस्य स तथा । कण्डूर इति कथं शव्दनिष्पत्ति ? उच्यते—"मध्वादिभ्यो र" [सि हे ७।२।२६] मध्वादिभ्यो मत्वर्थे र प्रत्ययो भवति इति सिद्ध रूपम् । पुन किम्भूतोऽधीश्वर ? 'अकट्वर' "कट्वरस्त्वतिकुत्सित" [अभि चि का ३ श्लो १४] इति हेमसूरयः, न कट्वरो अकट्वर, अकुत्सित इत्यर्थं । पुन किम्भूतोऽधीश्वर ? 'सुधारभृत्पूरतुषारदीप्तिर.' "धारोत्कर्षे खड्गाद्यग्रे, मन्याग्रे वाजिनां गतौ ॥ जलादिपाते सन्तत्या" [अने स का. २ श्लो. ४३८. ४३९] इति हैमानेकार्थवचनात् सु–शोभना धारा–सन्ततिः शिष्यप्रशिष्यादिका येपा ते सुधारा·, "डुभृञ् धारणपोपणयो"

विभ्रति–धारयन्ति गणमिति भृत –गणधरास्त्रयस्त्रिंशत्सङ्ख्याका, सुधाराश्च ते भृतश्च सुधारभृतस्तेषा पूर –सुधारभृत्पूर तदाह्लादकत्वेन तुषारदीप्ति.–चन्द्रमास्तद्वद् राजते–शोभते य. स तथा। पुन. किम्भूतोऽधीश्वर ? 'सुनारगौण्डीरकुटीरतुष्टिर' नराणा समूहो नार, सुष्ठु नार सुनार, तस्मिन् गौण्डीरा –सत्यवन्तो ये ते सुनारगौण्डीरास्तेषा कुटीर –राशिस्तस्य तुष्टे –सन्तोषस्य रा–दान यस्य स तथा। कुटीरशब्द औणादिकोऽस्ति राशिवाचक ॥१६॥

भव्यैरगोभिरहितैरयुतैरकह्वरं,
हीनैरधीभिरनितैरकरैरदुर्मुरः।
सुस्वैरमाररमणैरजितैरकार्यरं,
पुष्टैर नूतिरगदैरनरीरतेः पुरः ॥१७॥

मृदङ्गकच्छन्द ।[१]

व्याख्या—'अदुर्मुर' "मूर्वी हिसाया" क्विबन्त, दुष्टा मू –दुर्मू, न विद्यते दुर्मू –जीवहिसा यस्यासौ अदुर्मूस्तस्य अदुर्मुर –श्रीअरनाथजिनस्य 'अर' अत्यर्थ 'नूति' स्तुति –गुणोत्कीर्त्तनं 'अकारि' कृता। कै ? 'भव्यै' भविकजीवै इति सम्बन्ध। कथमकारि ? 'अकह्वर' "ह्वृ कौटिल्ये" अलन्त, अकाद्–दु खाद् ह्वर –कौटिल्य यस्मात् तत् अकह्वर–ससुखमित्यर्थ, एव यथा स्यात्तथा। अथ भव्याना विशेषणानि—किम्भूतैर्भव्यै ? 'अगोभि' न विद्यते गाव –किरणा येषा ते अगाव –अदीप्तास्तै अगोभि. 'अहितै' शत्रुभि 'अयुतै' न सहितै, निस्तेज शत्रु-

१ "त्भौ जौ रो मृदङ्गा।" [२-२६१] छन्दोनुशासनम्।

रहितैरित्यर्थ ।पुन किम्भूतैर्भव्यै· ? 'अधीभि ' न धिय. अधिय·, नञ्शब्दस्य कुत्सार्थत्वाद् अधिय –कुबुद्धयस्ताभि अधीभि – कुबुद्धिभि. 'हीनै ' रहितै.,सुमतिभिरित्यर्थ ।पुन किम्भूतैर्भव्यै ? 'अमितै ' न प्रमितै , प्रचुरैरित्यर्थ । पुन· किम्भूतैर्भव्यै ? 'अकरै·' दण्डरहित । पुन किम्भूतैर्भव्यै ? 'सुस्वै ' शोभनद्रव्यै , धर्मोपार्जितधनत्वात् । पुन किम्भूतैर्भव्यै. ? 'अमाररमणै ' न विद्यन्ते मारा –विघ्ना येपा ते अमारा –निर्विघ्ना , अत एव रमणा –रमणीया ये तेऽमाररमणास्तै । पुन किम्भूतैर्भव्यै. ? 'अजितै 'अपराभूतै ।पुन किम्भूतैर्भव्यै ?'पुष्टै ' पुष्टिमद्भि , अकार पादपूरणार्थमव्ययम् , अत एव 'अगदै ' नीरोगै । किम्भूतस्य अदुर्मुर ? 'अनरीरते ' न अरय –न शत्रव इति अनरय –मित्राणि तेषा ईरति –धर्मादिकार्येपु प्रेरणा यस्य स तथा तस्य । "ईर् प्रेरणे" "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे. ५।१।१३८] इति तिवि ईरति सिद्धम् । पुन किम्भूतस्य अदुर्मुर ? 'पुर ' "पुरत् अग्रगमने" क्विबन्त , पू –अग्रेसर-स्तस्य ।।१७।।

कठरकदरभङ्गं रम्यसारङ्गसारं,
मठरविसरनाशं रण्डभारण्डचारम् ।
अमरनिकरपूज्यं रङ्कारङ्गपारं,
वमरकृदरसङ्गारक्तमारं सुतारम् ।।१८।।

मालिनीच्छन्द[1] ।

---

१ "ननमयययुतेय मालिनी भोगिलोकै " [३।८१] वृत्तरत्नाकर ।

व्याख्या—'सुतार' सुष्ठु तार–उच्चै थमि[? ध्वनि] र्यस्य स [त] सुतार–श्रीअरनाथजिन अह 'आर' प्राप्तवान्, देवत्वेनेति गम्यम् । किम्भूत सुतार ? 'कठरकदरभङ्गे रम्यसारङ्गसार' कठर–दरिद्र भावप्रधाननिर्देशात् कठर–दारिद्रय स एव कदर–वृक्षविशेषस्तस्य भङ्ग–भञ्जन तस्मिन् कठरकदरभङ्गे रम्यसारङ्गसारमिव–प्रधानहस्तिवलमिव रम्यसारङ्गसारस्तम् । कठरकदरशब्दावौणादिकौ । पुन किम्भूत सुतार? 'मठर-विसरनाश'मठरा–अज्ञानिन ,यदुक्तमुणादिवृत्तौ—"मठर ऋषि अज्ञानी गोत्र च" [सि हे उ सू ३९७] इति, तेषा विसर–समूहस्तस्य[1] नाशो यस्मात् स मठरविसरनाशस्तम् । पुन किम्भूत सुतार ? 'रण्डभारण्डचार' रण्डा–निस्त्रीका भरण्डा–भण्डा भरण्डाना समूहो भारण्ड, रण्डाश्च भारण्डानि च रण्डभारण्डानि चरण चार, रण्डभारण्डाना चार–गमन यस्मात् स तथा तम् । पुन किम्भूत सुतार ? 'अमरनिकरपूज्य' अमरा–देवास्तेषा निकर–वृन्द तस्य पूज्य–पूजनीयो य स तथा तम् । पुन किम्भूत सुतार ? 'रङ्गकारङ्गपार' करङ्गा–कर्मशीला, करङ्गा एव कारङ्गा, स्वार्थे अण्, रङ्गस्य–हर्पविशेषस्य कारङ्गा ये ते रङ्गकारङ्गास्तेषा पार–पालन यस्य स तथा तम् । पुन किम्भूत सुतार ?'वमरकुदरसङ्घारक्त' वमरा–दुर्मेधसो ये कुदरा–सर्वकर्मप्रवृत्तदस्युजनास्तेषां सङ्घो वमरकुदरसङ्घस्तत्र अरक्त–अनासक्तो य स तथा तम् ॥१८॥

१.—स्तस्मान्नाशो यस्य इति मूलादर्शे पाठ. ॥

विभुरनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूर-
प्रपुरजदरहोभी रक्षकै रज्यसेऽर !।
यतिरदितिरहङ्कारक्षितेरक्षधार-
मकरमुदिरसुश्रीरद्दसंरम्भवारः ॥१९॥

व्याख्या—हे 'अर!' अरनाथ! त्व 'रज्यसे' रङ्ग कुरुषे। कै ? 'रक्षकै' रक्षन्तीनि रक्षकास्तै रक्षकै, साधुभिरित्यर्थ । किम्भूतै रक्षकै ? 'अनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूरप्रपुरजदरहोभि' न विद्यते अकं–दु खं यस्मिन् सोऽनक: एवम्भूतो रसङ्घ –घनसमूहो यस्या सा अनकरसङ्घा, सा चासौ आ च–लक्ष्मी अनकरसङ्घा, तया रञ्जिता–रसीकृता आरक्षणशूरा.–समन्ताज्जीवपालनसुभटा ये ते अनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूरा "पुर् सुरत् ऐश्वर्यदीप्त्यो " प्रपुरति–प्रकर्षेण सर्वज्ञानोत्तमत्वाद् ईष्टे यत्तत् प्रपुर–केवलज्ञान तेन जत्–अत्यर्थं जायमान अरह–अच्छन्न येषां ते प्रपुरजदरहसः,अनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूराश्च ते प्रपुरजदरहसश्च अनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूरप्रपुरजदरहसस्तै । जत् इति कथ निष्पत्तिरिति ? "जनैचि प्रादुर्भावे" इति धातो शतरि जन्जन्तीति वाक्ये "जाज्ञा–" [सि हे ४।२।१०४] इति सूत्रेण जादेशे "श्नश्चात" [सि हे. ४।२।९६] इत्याल्लुकि जत् इति सिद्धम् । किम्भूतस्त्व हे अर ! ? 'विभु.' स्वामी, सामान्यकेवलिनामिति गम्यते । पुन किम्भूतस्त्व ? 'यति.' साधु । पुन किम्भूतस्त्व? 'अदिति' अखण्डन । पुन. किम्भूतस्त्वं ? 'अहङ्कारक्षितेः' अहङ्कारस्य–स्मयस्य क्षित–क्षय एति–प्राप्नोति य स तथा । पुन किम्भूतस्त्व ? 'अक्षधारम-

करमुदि.' अक्ष –ज्ञान, "अक्षो रथस्यावयवे, व्यवहारे विभीतके। [1]प्रासके शकटे कर्षे, तुषे ज्ञानात्मयोरपि ॥" [अने स. का २ श्लो ५६०] इति हैमानेकार्थोक्ते, अक्ष–ज्ञान धरतीति अक्षधार., कर्मण्यण्, मकर –निधिविशेष, स इव मुदि –प्रमोदो यस्मात् स मकरमुदि, यथा हि दरिद्राणा निधिविलोकनात्प्रमोदस्तथा अस्मादपीति, "मुद् हर्षे" "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि हे ५।३।१३८] इति इप्रत्ययः, अक्षधारश्चासौ मकरमुदिश्चेति कर्मधारय । पुन किम्भूतस्त्व ? 'असुश्री:' एपु–जनेषु सुश्री –शोभनश्रीर्यस्यासौ तथा, "अ कृष्ण शङ्करो ब्रह्मा, शक्र सोमोऽनिलोऽनल । सूर्य. प्राणो जन" [सौ ए २] इति वचनप्रामाण्यात्। पुन किम्भूतस्त्व ? 'अट्टसरम्भवार' अट्ट–अत्यर्थ सरम्भ –परीरम्भोऽर्हता यस्मिन् स अट्टसरम्भ –नि श्रेयस, तस्य वार –वरण यस्य स तथा, "अट्टो हट्टाट्टालकयोर्भृगे"। [अने स का. २. श्लो ६४] इति वचनात् ॥१९॥

नाथैरनुत्तरनरैरभिहारसत्वर-
भद्रैरदैररहरैरमलैरघाशरः ।
देवैरवस्कररहैरवहारकूत्कर-
नष्टैरपाठि रसिकैरदरैरवल्लरः ॥२०॥

मृदङ्गकच्छन्दः।

व्याख्या—अनुत्तरा –प्रधाना ये नरा –मनुष्या अनुत्तरनरास्तै अनुत्तरनरै, अय गुरुरिति शेष, 'अघाशर' "शॄ, हिंसने" अलन्त, अघाना–पापाना आ–समन्तात् शर –हिंसनं

---

१ "पाशके शकटे कर्षे, ज्ञाने चात्मनि रावणौ"। इति मुद्रिते

यस्मात् स 'अघाशर –पापनाशक 'अपाठि' पठित इति सम्वन्ध । किम्भूतोऽघाशर ? 'अवल्लर' "वल्लर कुञ्जमञ्जर्यो. क्षेत्रे [ऽनम्भसि शाद्वले ।]" [अने स. का ३ श्लो. ११९८] इति भणनाद्, न विद्यन्ते वल्लराणि–क्षेत्राणि धान्यवपनस्थानानि यस्यासौ तथा, त्यक्तगृहवासत्वात्। अथ सर्वाणि तृतीयाविशेषणानि—किम्भूतैरनुत्तरनरै ? 'नाथै' स्वामिभि । पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरै ? 'अभिहारसत्वरभद्रै.' "अभिहार सन्नहने, चौरिकोद्यमयोरपि" [अने स का ४ श्लो, १६०८] इत्युक्ते अभिहारेण–उद्यमेन सत्वर–त्वरित भद्रं–मङ्गल येभ्यस्ते तथा तै । पुन किम्भूतैरनुत्तरनरै.? 'अदै.' न द्यन्ति जीवानिति अदास्तै, दयावद्भिरित्यर्थ । पुन किम्भूतैरनुत्तरनरै ? 'अरहरै.' ऋणन्ति–प्राणिनोऽत्यन्तदु.ख प्राप्नुवन्ति येभ्यस्तानि अराणि–घातिकर्माणि, तानि हरन्तीति अरहरास्तै । पुन किम्भूतैरनुत्तरनरै ? 'अमलै' निर्मलै, गुणोज्ज्वलैरित्यर्थ । पुन किम्भूतैरनुत्तरनरै ? 'देवै' दीव्यन्ति–धर्मे रमन्ते इति देवास्तै, अथवा 'देवै' सुरै । किम्भूतै. सुरै ? 'अवस्कररहै' "रह त्यजि" अलन्त, अवस्करस्य–गूथस्य रह –त्यजन येषा ते तथा तै, "अवस्करो गूथगुह्ययो" [अने स का ४ श्लो. १६०७] इत्युक्ते, देवानामाहाराभावे नीहारस्याप्यभाव इति। पुन किम्भूतैरनुत्तरनरै ? 'अवहारकूत्करनष्टै' "अवहारस्तु युद्धादिविश्रान्तौ ग्राहचौरयो. ।" [अने स का ४ श्लो १६०८] इत्युक्ते अवहाराणा–चौराणा य कूत्कर –कुत्सितसमूहस्तस्मान्नष्टा गता ये ते तथा तै । पुन किम्भूतैरनुत्तरनरै ?'रसिकै' इति सुगमम् । पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः ? 'अदरै' निर्भीकै ॥२०॥

खरुरभिमरनाशं रञ्जनारन्तिभूर-
हमुर दधर बाढं रङ्कनारङ्गमौर !।
प्रखरसिहिरकान्तेरन्धकारक्षयोर-
समररिपुरनिष्टारक्षसोऽरम्भधूर !।।२२।।

मालिनीच्छन्द.।

व्याख्या,—हे 'रञ्जनारन्तिभू !' रञ्जना.—रञ्जका "रञ्जन रञ्जके" [रक्तचन्दने]" [अने स का ३ श्लो १००२] इति वचनात्, [तेजा] या आ—लक्ष्मीस्तया रम्यादिति रञ्जनारन्ति, "तिक्कृतौ नाम्नि" [सि हे, ५।१।७१] इत्यनेन सूत्रेण सिद्धिर्भवति, भद्र यस्मात् स भू, क्विवन्त, रञ्जनारन्तिश्चासौ भूश्च रञ्जनारन्तिभूस्तत्सम्बोधन हे रञ्जनारन्तिभू ! हे अरनाथ! अह 'बाढ' अत्यर्थ 'दधर' कृतवान्। किं तत् ? 'अभिमरनाश' "अभिमरो वधे ।। स्ववलात् साध्वसे [युद्धे]" [अने स का ३ श्लो. १६०५, १६०६] इति हैमानेकार्थवचनात्, अभिमरस्य—साध्वसस्य नाश अभिमरनाशस्त अभिमरनाश—भयनिर्नाश, कस्मात् ? 'उ' धर्मात्। "ऋशब्द पावके सूर्ये धर्मे [दाने धने पुमान्]" [ए ना ११] इति विश्वशम्भुवचनात्। 'अ' पादपूर्त्तौ। किम्भूतो हे [रञ्जनारन्तिभू !?] 'खरु' निर्दोषत्वान्निर्मल "[1]खरु. सौदर्यहरयोर्दर्पदन्तसितेषु च।" [अने स का २ श्लो ४१४] इति वचनात्। किम्भूत हे रञ्जनारन्तिभू !? 'रङ्कनारङ्गमौ !' रङ्कानि—कृपणानि यानि नारङ्गानि—जन्मिन "नारङ्ग विटजन्मिनो" [अने स का ३ श्लो ७२१] इति

---

१. "खरु. स्यादश्वहरयो." इति मुद्रिते।

वचनात्, तेपा मा–लक्ष्मी अवति–नाशयति योसौ रङ्कनार-ङ्गमौ, तस्य सम्बोधन हे रङ्कनारङ्गमौ ! । एवंविधोऽत्र. अकारो निपेधार्थं । पुनः किम्भूत हे रञ्जनारन्तिभू.! ? 'ओ.' प्राणक. । पुन किम्भूत हे रञ्जनारन्तिभू ! ? 'अरम्भधूर !' न विद्यन्ते रम्भा–देवाङ्गनास्तत्सदृशत्वात् रम्भा–रूपसुन्दर्यः सुन्दर्यो येपा ते अरम्भा–वैरङ्गिका, "धूरेङ गतौ" अलन्त, गत्यर्थाना प्राप्त्यर्थत्वात्, अरम्भाना धूर–प्राप्तिर्यस्यासौ तथा, स सम्बो-ध्यते । किम्भूतोऽहं ? 'असमररिपु' न विद्यन्ते समररिपव.–युद्धशत्रवो यस्य स तथा । किम्भूतस्य उ ? 'प्रखरमिहिरकान्ते' प्रखर–अत्यन्तकठोर, "प्रखर. पुन. ।। वेसरे हयसन्नाहे, कुक्कुरेऽतिभृश खरे ।" [अने स का ३ श्लो ११७०–७१] इति वचनात्, स चासौ मिहिर–सूर्यस्तस्य कान्तिरिव–रोचि-रिव य स प्रखरमिहिरकान्तिस्तस्य, कस्मिन् ? 'अन्धकारक्षे' अन्धकारस्य–अज्ञानतमस. क्ष–क्षय अन्धकारक्ष तस्मिन्, अज्ञानतमोविनाशने सूर्यस्येत्यर्थ. । पुन किम्भूतस्य उ ? 'अनि-ष्टारक्षस' अनिष्टानि–अनभीष्टानि आ–समन्ताद् रक्षासि–राक्षसा यस्मात् स तथा तस्य, राक्षस्यभयाभावस्येत्यर्थ ।।२१।।

विदारहर्त्तारमकारशाङ्कुरं,
विहारकर्त्तारमशारभास्वरम् ।
बभार चित्ते रमणीरसानरः
ककारकं तारकधारके उरः ! ।। २२ ।।

व्याख्या—हे 'तारकधारके उर. !' तारका–ससाराब्धि-पारगा तान् धारयति इति तारकधारकस्तस्मिन् तारकधारके–

साधुजने उर –मुख्य., "उरो वक्षसि मुख्ये स्यात्" [अने स का २ श्लो ५८०] इत्युक्ते, हे साधुजनोत्तम! 'रमणीरसानर' रमण्य –स्त्रियस्तासु रस –रागस्त न नरति–न नयति योसौ रमणीरसानर प्रस्तावात् साधुजन 'चित्ते' हृदि 'वभार' धृतवान्। क? 'विदारहर्त्तार' विदार्यन्ते नरा अस्मिन् स विदार – युद्ध, तस्य हर्त्ता–हारको य स विदारहर्त्ता त विदारहर्त्तार– श्रीअरनाथजिनम्। किम्भून विदारहर्त्तार? 'अकारगाङ्कर' न विद्यते कार –प्रस्तावात् ससारकारागार येषा ते अकारा – सामान्यजिनास्तेषु मध्ये विशिष्टत्वात् गाङ्कर इव–वृषभ इव अकारशाङ्करस्तम्। पुन किम्भूत विदारहर्त्तार? 'विहारकर्त्तार' विहार –लीला निरुपमसयमश्रीविलसनरूपा, "विहारस्तु जिनालये, लीलाया" [अने स का ३ श्लो १२०३] इति हेमाचार्या, तस्य कर्त्ता विहारकर्त्ता, तम्। पुन किम्भूत विदारहर्त्तार? अगारभास्वर' "शारण् दौर्बल्ये" अलन्त, न शारोऽशार– अदौर्बल्य, तेन भास्वर–मनोज्ञो य स तथा तम्। पुन किम्भूत विदारहर्त्तार?'ककारक' सुखविधायकम् ॥ २२ ॥

तनुरवसरवित्तेरर्कसेरस्तदार!,
प्रसुरति मुरविष्टेरंहतेरभ्रतेर ।
प्रवरभृदररे! भारत्यमेरस्यवेर!
नवरजतरणेरेरङ्कारण्डजेर ॥२३॥

मालिनीच्छन्द ।

व्याख्या—'अररे!' सम्बोधनार्थमव्ययम्। हे 'प्रवरभृत्!' "प्रवर सन्ततौ [गोत्रे श्रेष्ठे च]" [अने स का ३ श्लो ११७०]

इति हेमानेकार्थोक्ते प्रवर–सन्तति पुत्रपौत्रादिकां विभर्ति–पुष्णाति योऽसौ प्रवरभृत्, तस्य सम्बोधन हे प्रवरभृत् !–हे मित्र! 'तनु ' शरीर 'प्रसुरति' प्रशोभते । कस्य ? 'अवसरवित्ते ' "अवसरो वत्सरे क्षणे" [अने स का. ४ श्लो. १६०६] इति वचनात्, अवसर –अतीतानागतवर्तमानकाललक्षणस्तस्य "वित्तिस्तु सम्भवे । ज्ञाने [लाभे विचारे च]" [अने. स का ३ श्लो २०६] इति वचनाद्, वित्ति – ज्ञान यस्य यस्माद्वा स अवसरवित्तिस्तस्य अवसरवित्ते – श्रीअरनाथजिनस्य । किम्भूतस्य अवसरवित्ते ? 'अर्कसे ' "अर्क स्तुतौ" अर्च्यते–स्तूयते जनैरिति अर्क, सह इना–इन्द्रेण वर्त्तते य· स से –सेन्द्र , "इ काम स्थाणुरिन्द्र " [सौ. ए ४] इति वचनात्, अर्कश्चासौ सेश्च अर्कसेस्तस्य । किम्भूत हे प्रवरभृत् ! ? 'अस्तदार ! ' अस्ता: दारा.– परकलत्राणि येनासौ अस्तदारस्तस्यामन्त्रणम् । पुन. किम्भूतस्य अवसरवित्ते ?'मुरविष्टे ' "मुर वेष्टने" इति धातो अचि मुरन्ति–आत्मान आच्छादयन्ति पापैरिति मुराणि–कर्माणि तेषा विष्टि – प्रेषण मुञ्चनं यस्मात् स तथा तस्य, "विष्टि: कर्मकरे मूल्ये, भद्राया[1] प्रेषणेऽपि च ।" [अने. स का २ श्लो. ११४] इति वचनप्रामाण्यात् । पुन किम्भूतस्य अवसरवित्ते ? 'अहते. अभ्रते ' "अहतिस्त्यागरोगयो " [अने स. का. ३ श्लो. ८४०] इत्युक्तत्वात्, अहते –रोगस्य, जातावेकवचन, "अभ्र गतौ" गत्यर्थाना प्राप्त्यर्थत्वात् "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि हे ५।३। १३८] इति तिवि अभ्रति – प्राप्तिस्तस्य अभ्रते , 'अ'न, अकारो निषेधार्थ:, रोगाना नाशकस्येत्यर्थ । पुन किम्भूतस्य अवसर-

---

१. "भद्राऽऽजूप्रेषणेपु च" इति मुद्रिते ।

वित्ते ? 'भारत्यमे' भारत्या—वाग्देव्या अमि—भजन सेवनं यस्मिन् स तथा तस्य, "अम् गतौ भजने शब्दे" इति **कविकल्पद्रुमधातुपाठोक्ते**, "इकिश्तिव्०" [सि हे ५।३।१३८] इति सूत्रेण इप्रत्यये सिद्धि । पुन किम्भूत हे प्रवरभृत्! ? 'अस्यवेर!' भजनीयशरीर!। किम्भूता तनु ? 'नवरजतरणे' "रण गतौ" रणयति—सरसि जन्म प्राप्नोति यत्तत् रण—पद्म नव—नूतन यद् रजत—स्वर्ण तस्य रण नवरजतरण—नवीनस्वर्ण-कमल, तदिव एति—शोभते या सा तथा, स्वर्णवर्णगौरीत्यर्थ, "इल् (?इण्) कान्तौ" क्विबन्त, यदुक्तं **श्रीहेमसूरिपादैः** अभिधानकोपे——

"सुवर्णं पुन ।

स्वर्ण हेम हिरण्यहाटकवसून्यष्टापद काञ्चन,
कल्याण कनक महारजतरैगाङ्गेयरुक्मीण्यपि ।।
कलधौतलौहोत्तमवह्निबीजान्यपि गारुड गैरिकजातरूपे ।
तपनीयचामीकरचन्द्रभर्मा-र्जुननिष्ककार्तस्वरकर्बुराणि ।।
जाम्बूनद शातकुम्भं, रजत भूरि भूत्तमम् ।"

[का ४ श्लो १०९—११]

पुन किम्भूतस्य अवसरवित्ते ? 'ए.' "एधग् (?इणक्) गतौ" गत्यर्थाना ज्ञानार्थत्वाद् विचि एति—सर्वजनमनोगत जानाति य स ए, तस्य ए । पुन. किम्भूतस्य अवसरवित्ते ? ['अङ्ककारण्डजेर'] "अकि गत्या" अङ्कन अङ्क—ज्ञान स एव कारण्ड—असिस्तेन जयतीति विचि, अङ्ककारण्डजेस्तस्य, अकार पादपूर्त्तौ, "कारण्डो मधुकोशेऽसौ" [अने. स का ३ श्लो ७७५] इति वचनात् ।।२३।।

पूज्यैरघोरैरमदैर! जेतरं,
　　नेतारमायोरनयैरपांसुरम् ।
धर्त्तारमंहेरगसो रषं त्वरं,
　　पातारमस्तेरकलेरमुष्करम् ॥२४॥

व्याख्या—'अ!' इति सम्बोधने, भो जना.! इति पद-मध्याहार्यम्, प्रणमतेत्यपि शेष । कं? 'जेतरं' "जि अभिभवे" जयतीति विचि जे –जेता प्रकृष्टो जे जेतरस्त जेतर–श्रीअरनाथ-जिन "कित्याद्येऽव्ययादसत्त्वे तयोरन्तस्याम्" [सि. हे ७।३।८] इत्येनन सूत्रेण तरप् । किम्भूत जेतर? 'पूज्यै' पूजार्हैं –साधुभिरि-त्यर्थोपलक्षितमित्यर्थ । किम्भूतै पूज्यै? 'अघोरै' अभयङ्करै । पुन किम्भूतैः पूज्यै? 'अमदै' निरहङ्कारै । पुन किम्भूतै पूज्यै? 'अनयै' "अन प्राणने" अनन्तीत्यचि अना –प्राणिनस्तेषां या–लक्ष्मीर्येभ्यस्ते अनयास्तै. । पुन किम्भूत जेतर? 'आयो' जीवनस्य 'नेतार' दातारमित्यर्थ, दयापालकत्वात् । "इण्क् गतौ" ए[ती] त्यायु "कृवापाजिस्वदि[साध्यशौदृस्नासनिजानिरहीण्भ्य उण्]" [सि.हे उ सू १] इत्यनेन उण्प्रत्यये सिद्धम् । पुन किम्भूत जेतर? 'अपासुर' पासू[1]–रेणुस्तत्प्रायत्वात् पासव.–शठास्ते विद्यन्ते यस्य स. पासुर', "मध्वादिभ्यो र" [सि हे. ७।२।२६] इति र, न पासुरोऽपासुरस्तम् । पुन किम्भूत जेतर? 'धर्त्तार' धारकम् । कस्य? 'अहे.' भास "अहिक् भासि" "इकिश्तिव्०" [सि हे ५।३।१३८] इति इप्रत्यय. । पुन किम्भूत जेतर? 'रषं'

१—"धूलि-धूल्यो पांशु-पांसू, रजो ना सान्तपण् रज" इति शब्दरत्नाकर' का ४ श्लो. ३३

"रलयो सावर्ण्यम्" इत्युक्त 'लप' "लषञ् स्पृहि" लपति-स्पृहतीति क्विपि लक्(?ट्) त लप–वाञ्छकम्, कस्य? 'अगस' शाश्वतक्षेमस्य, "अज क्षेपणे अञ्ज्यजियुजिभृजेर्ग च" [सि हे उ सू ९६९] इत्यनेन औणादिकसूत्रेण अस्प्रत्ययो गकारश्चान्तादेशो भवतीति निष्पन्न अग –क्षेममिति। पुनः किम्भूत जेतर? 'त्वरं' "त्वर स्यदि" अचि त्वरयति धर्मार्थं जनानिति त्वरस्तम्। पुन किम्भूत जेतर? 'पातार' पालकम्, कस्य? 'अस्ते' अस्त –क्षिप्त इ –कामो येन स अस्ते, तस्य अस्ते –साधो। किम्भूतस्य अस्ते? 'अकले' कलहरहितस्य। पुन किम्भूत जेतर? 'अमुष्कर' मुष्का –अण्डका विद्यन्ते येषा ते मुष्करा –पशव, "मध्वादिभ्यो र" [सि. हे ७।२।२६] इति र, न विद्यन्ते मुष्करा यस्यासौ तथा त, वृतव्रतत्वात्॥२४॥

अवरहसरथाङ्गारव्यवारण्डरोर-
वृषरवणरसालौरम्यलेरङ्कदूरम्।
गुरुरवलिरधृत्योरङ्गनो रश्मिदोर-
गिरिरशिथिरबुद्धि रक्षतात् रच्यगूरः॥२५॥

व्याख्या—'रच्यगूर' "गूर उद्यमे" अलन्त, रच्य –रचनीयो गूर –उद्यमो धर्माद्यर्थ यस्यासौ रच्यगूर –श्रीअरनाथजिन 'रक्षतात्' पातु। 'रक्षतात्' अग्रे 'रच्यगूर' इत्यत्र "न सन्धि" [सि हे १।३।५२] इत्यनेन सूत्रेण सन्ध्यकरणमदुष्टम्। क? 'अशिथिरबुद्धि' न शिथिरा–न श्लथा बुद्धिर्यस्यासौ अशिथिरबुद्धिस्तमित्यन्वय.। किम्भूतो रच्यगूर? 'अवरहसरथाङ्गारव्यवारण्डरोरवृषरवणरसालौ' अव–हीन रह –

अप्रकाश्य यस्मात् सोऽवरहस , यद्वा अव–हीनो रहसा य स. अवरहस , "तप्तान्ववाद्रहस "[सि हे ७।३।८१] इति सूत्रेण समासान्त अप्रत्यय , अवरहसा –साधवस्त एव रथाङ्गा –चक्रवाकास्तेषा आह्लादकत्वेन रविरिव–भानुरिव योसौ अवरहसरथाङ्गारवि , "वरण्डो वदनामये" [अने स का ३ श्लो. ७८१] इति वचनाद्, वरण्ड एव वारण्ड , स्वार्थे अण्प्रत्यय , न विद्यते वारण्ड –वदनामयो यस्यासौ अवारण्ड रोर –दरिद्र निर्धनत्वात्, यद्वा न वारण्डो अवारण्ड , नञ्शब्दस्य कुत्सार्थत्वाद् अवारण्ड –कुत्सितवदनामयस्तेन रोर.–दरिद्रो य स अवारण्डरोर , वृषं–पुण्यं रौनीत्येवंशीलो वृषरवण –धर्मवक्ता, "रसाला दूर्वाविदार्योर्जिह्वामार्जितयोरपि ।" [अने स का ३ श्लो. १२८०] इति वचनाद्, रसालया–जिह्वया अवति–दीप्यति जिह्वाया अत्यन्तरक्तत्वेन तनुत्वेन च य. स रसालौ., चतुर्णा कर्मधारये अवरहसरथाङ्गारव्यवारण्डरोरवृषरवणरसालौ । पुन किम्भूतो रच्यगूर ? 'अम्यले' "अम गतौ भजने" अम – ज्ञान विद्यते येषा ते अमिन –पण्डितास्तेषा अल –भूषा येभ्यस्ते अम्यला , " अल वारणपर्याप्तिभूषासु" इति वचनात्, अलन्त , अम्यला –सुरगुरुमानमातङ्गमर्दनसारङ्गनाव (? गाव) निभा गतनिभा (?) वादिन षोडशशतसङ्ख्याकास्तैरिति दीप्यते योसौ तथा । कथ भवति ? 'अङ्कदूर' "अङ्को भूषा रूपकलक्ष्मसु ॥ चित्राजीनाटकाद्यशे, स्थाने क्रोडेऽन्तिकागसो ।" [अने स का २ श्लो १७,१८] अङ्कात्–आगसो दूर यत्तत् अङ्कदूर, एवं यथा स्यात्तथा । पुन किम्भूतो रच्यगूर ? 'गुरु.' गरिष्ठ गुणैरिति गम्यते । पुन

किम्भूतो रच्यगूर ? 'अङ्गन' "अगि गतौ" गत्यर्थाना प्राप्त्यर्थत्वाद् अङ्गयति–प्रापयति अङ्गन, कर्त्तर्यनट्। कयो ? 'अवलिरधृत्यो' न वलिरा अवलिरा–अवक्रदृष्टय, धृतिश्च–सुख धृतिश्च–सन्तोप "स्यादावसङ्ख्येय" (सि हे ३।१।११९) इति सूत्रेणैकशेषे धृती, अवलिराणा–अवक्रदृष्टीनां धृती अवलिरधृती तयो, "धृतिर्योगविशेषे स्याद् धारणाधैर्ययो सुखे। सन्तोषाध्वरयोश्चापि" [अने स का २ श्लो. १८९] इत्युक्ते, अमुना विशेषणेन शीलव्रतधारिणा पुसा सुखसन्तोषयो प्रापक इत्यर्थ । पुन किम्भूतो रच्यगूर ? 'रश्मिदो' "दु उपतापे" क्विप्प्रत्ययान्त, रश्मिभि शत्रून् दुनोति–उपतापयति योऽसौ तथा । पुन किम्भूतो रच्यगूर ? 'अगिरि' "गिरि.,पूज्येऽक्षिरुजि [कन्दुके। शैले गिरियके[२] गीर्णावपि" अने. स. का २. श्लो ४१६] इति वचनाद् न विद्यते गिरि.–अक्षिरुग् यस्यासौ तथा, प्रधानाक्ष इत्यर्थ ॥ २५ ॥

कारोरनीतेरधृतेरदोषर!
दारोरवाचो रजनीरभीरुरम् ।
सद्वोरनर्त्तेरमृतेरनम्बरः,
सन्नोररिष्टेरभृतेरकर्करः ॥२६॥

व्याख्या––हे 'अदोषर !' न दोषा अदोषा तेषा रा–दान यस्यासौ अदोपरः तत्सम्बोधन हे अदोषर !–हे

२ "गिरियक–गिरिगुडः काष्ठादिमय क्रीडनकम्" इति टीकाया उद्धरण टिप्पने ।

श्रीअरनाथजिन ! त्वं 'अवाच' अत्यर्थं अब्रवी. । किं तत् ? 'अं' परब्रह्म, "अ मान्तो ब्रह्मसंवादे, परब्रह्मप्रवाचक ।" [वि ए १६] इति वचनप्रामाण्यात् । कस्य ? 'कारो' इन्द्रस्य, जातावेकवचनं, "डुकृग् करणे कृगट् हिंसाया वा" निरनुबन्धग्रहणे सामान्य-ग्रहणात् करोति करति कृणोति वा "कृवापाजि [स्वदिसाध्यशौदृ-स्नासनिजानिरहीणभ्य उण्" सि हे उ सू १] इति सूत्रेण उण्प्रत्यये "कारु कारी नापितादि. इन्द्रश्च" । किम्भूतस्य कारो ? 'अनीते.' "णीग् प्रापणे" क्तिप्रत्यये नीति –प्रापणं, न विद्यते नीति –प्रापणं यस्यासौ तथा तस्य । कस्य ? 'अधृते.' असुखस्य । पुनः किम्भूतस्य कारो. ? 'दारो.' ददाति दयते यच्छति द्यति दाति दापयति वा इत्येवशीलो दारु-स्तस्य, "दाट्धेसिशदसदो रु." [सि हे ५।२।३६] इति रु-प्रत्यये सिद्धि । किम्भूतस्त्वं ? रजनी–निशा कान्तात्वेन एति–प्राप्नोति योऽसौ रजनी –चन्द्रस्तद्वत् शीतलत्वाद् रजनीरिव रज-नीयं स तथा । पुन. किम्भूतस्त्वं ? 'अभीरु.' न विद्यन्ते भीरव –स्त्रियो यस्यासौ तथा । पुन. किम्भूतस्त्व ? 'सद्दो.' सन्तौ शोभनौ अर्चितौ वा दोषौ–[वाम]दक्षिणभुजौ यस्यासौ तथा । पुन किम्भूतस्य कारो ? 'अनर्त्ते.' न विद्यते अर्ति.–पीडा यस्यासौ अनर्त्तिस्तस्य । पुन किम्भूतस्य कारो ? 'अमृते:' अमरणस्य । पुनः किम्भूतस्त्व ? 'अनम्बर' न विद्यते अम्बर–वासो यस्यासौ तथा । पुन. किम्भूतस्य कारो ? 'अभृते' न विद्यते भृति –पोषण यस्यासौ तथा तस्य । कस्य? 'अरिष्टे' अशुभस्य । कस्य? 'सन्नो.' सती–विद्यमाना नु.–स्तुतिर्जनेषु

यस्य स सन्नु—भक्तस्तस्य । पुन किम्भूतस्त्व ? 'अकर्कर' अकर्कश इत्यर्थ ॥ २६ ॥

सृमरमुदिरसेरोरर्थधेरत्खिखीरं,
ननर निगरणाश्रेरच्छपेरम्बगारम् ।
सुसरठिकरटीतेरस्तजारण्डसार-
मधुरनविरलक्षे रथ्यदेरस्त्रपेर ॥ २७ ॥

व्याख्या—अह 'ननर' प्राप्तवान्, "नृश् नीतौ" परोक्षाया उत्तमपुरुषरूपम् । कि तत् ? 'अत्खिखीर' "अत सातत्यगमने" क्विबन्त, गत्यर्थाना ज्ञानार्थत्वाद् अद्—ज्ञान तस्य खिखीरा—वहुत्व यस्मात् स तथा तं अत्खिखीर—जिनप्रणीतधर्मम्, "खिखीरा वद्[1] वहुत्वे च" [अने सं का ३ श्लो ११५०] इत्युक्ते । कस्मात् ? 'सृमरमुदिरसेरो ' सरन्ति—मैथुननिमित्तं वेश्यादिषु गच्छन्ति ये ते सृमरा, "सृघस्यदो मरक्" [सि हे. ५।२।७३] इत्यनेन मरक्, अत एव "मुदिर कामुके मेघे" [अने स का ३ श्लो ११९६] इति वचनप्रामाण्याद् मुदिरा—कामुका, "षिगृट् वन्धे" सिनोति—बध्नातीत्येवशीलो य स सृमरमुदिरसेरु, "दाट्धेसिशदसदो रु" [सि हे ५।२।३६] इति रु, तस्य [? तस्मात्] सृमरमुदिरसेरो , श्रीअरनाथजिनादित्यर्थ । किम्भूत अत्खिखीर ? 'अम्बगार' "अम्ब च गतौ"(?) अम्ब्यते—ज्ञायते योग्यायोग्यमार्गमेभ्यो लोकैरिति अम्बा—जिनप्रणीतैकादशाङ्गानि, तेषा गार —विज्ञायो यस्मात् स तथा तम्,

---

१. "खिङ्खिरा खिङ्खिरी" इत्यपि पा० ॥

"गृक्ड विज्ञाये" इति कविकल्पद्रुमधातुपाठोक्ते । किम्भूतस्य सृमरमुदिरसेरो ? 'अर्थधे' अर्थं–ज्ञानदर्शनचारित्ररूप धन धियति योऽसौ अर्थधेस्तस्य, "धित् धृतौ" विच्प्रत्ययान्त. । पुन. किम्भूतस्य सृमरमुदिरसेरो ? 'निगरणाश्रे' "गॄत् निगरणे" नितरा गरण–अदनं येषा ते निगरणा.–प्राणिन, ते आ–समन्तात् श्रयन्ति–सेवन्ति यमिति निगरणाश्रेस्तस्य, प्राणिभि. सेवितस्येत्यर्थ, "श्रिग् सेवने" विच्प्रत्ययान्त. । पुन किम्भूतस्य सृमरमुदिरसेरो ? 'अच्छपे' "पित् गतौ" ज्ञानार्थ. विजन्त, अच्छ –निर्मल. पे.–ज्ञानं केवलज्ञान यस्यासौ तथा तस्य । पुन. किम्भूतस्य सृमरमुदिरसेरो. ? 'सुमरठिकरटीते' मरठा –प्राणा, यदुक्तमुणादिवृत्तौ–"मरठ दध्यतिद्रवीभूत कृमिजाति· कण्ठ. प्राणश्च ।" [सि हे. उ. सू १६७] इति, ते विद्यन्ते येषा ते मरठिन, सुष्ठु मरठिन सुमरठिन., तेषां मध्ये करटिन इव–गजा इव ये ते सुमरठिकरटिन, तेषा इति – शोभा यस्मात् स तथा तस्य, "इण् कान्तिगतिव्याप्तिक्षेपप्रजनखादने" इति वचनात् । पुन किम्भूतस्य सृमरमुदिरसेरो: ? 'अस्तजारण्डमारमधुरनविरलक्षे' जरण्ड –अतीतवयस्क., भावप्रधाननिर्देशाद् जरण्डशब्देन वृद्धत्वम्, जरण्ड एव जारण्ड., स्वार्थे अण्प्रत्यय, अस्त –क्षिप्त जारण्ड –वृद्धत्वमेव येभ्यस्ते अस्तजारण्डा –युवान·, मार –कन्दर्पस्तद्वत् सुन्दररूपत्वाद् मधुरा·–सर्वजनप्रिया: मारमधुरा·, अस्तजारण्डाश्च ते मारमधुराश्च अस्तजारण्डमारमधुरा, ते च ते नाश्च–नरा अस्तजारण्डमारमधुरना·–कामिपुमास., "नो नरे" [७६] इति विश्वशम्भुवचनात्, तेभ्यो विरला –असहता ये ते अस्तजारण्ड-

मारमधुरनविरला, तै "क्षि क्षयैश्वर्ययो" विचि क्षयति – ईष्टे य. स अस्तजारण्डमारमधुरनविरलक्षेस्तस्य । पुन किम्भूतस्य सूमरमुदिरसेरो ? 'रथ्यदे' "रथ्यो रथाशे रथवोढरि" [अने. स. कां. २ श्लो. ३८६] इति वचनाद् रथ्या –रथवोढार, प्रस्तावाद् धर्मरथवोढार, तान् "देङ पालने" विचि दयते–पालयति योऽसौ रथ्यदेस्तस्य । पुन किम्भूतस्य सूमरमुदिरसेरो ? 'अस्त्रपे अ' "अस्त्र चापे प्रहरणे" [अने स का २ श्लो ४००] इति वचनात् "पित् गतौ" "ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्था" इति वचनाद् अस्त्राणा–चापाना पे –प्राप्तिर्यस्य सोऽस्त्रपेस्तस्य अस्त्रपे, एवविध 'अ' न, अकारो निषेधार्थ ॥२७॥

लोकैरशोभि रपनैरपनैरखिङ्गिर:,
पूतैरमातिरतरैरकदैरघस्मर: ।
सुश्रीरनेमिरनतैरसुधैरतोमर-
प्रष्ठैरदु:खरजकैरवनैरमत्सर: ॥२८॥

मृदङ्गकच्छन्द

व्याख्या—'अखिङ्गिर:' "खिङ्गिरस्तु शिवाभेदे, खट्वाङ्गे वारिवालके" [अने स. का. ३ श्लो ११४९] इति वचनाद् न विद्यते खिङ्गिर –वालक सुगन्ध्यर्थं यस्य स अखिङ्गिर –श्रीअरनाथतीर्थकृत् 'लोकै.' श्रावकजनै. साधुजनैर्वा 'अशोभि' शोभित । किम्भूतैर्लोकै. ? 'रपनै.' "रप भाषणे" कर्त्तर्यनटि रपन्ति–शुभवार्त्ता भाषन्ते ये ते रपनास्तै ।पुन किम्भूतैर्लोकै ? 'अपनै' "नो वुद्धौ ज्ञानबन्धयो" [२७] इति सुधाकलशवचनाद्

अप–गतो न –वन्धोऽकरणार्हवस्तुव्रातजो येभ्यस्तेऽपनास्तै । पुन किम्भूतैर्लोकै ? 'पूतै' पवित्रै । किम्भूत अखिङ्ग्विर: ? 'अतरे अमाति' "अत सातत्यगमने" गत्यर्थाना ज्ञानार्थत्वाद् अतस्य–ज्ञानस्य "रिन् गतौ" विजन्त रे –प्रापण यस्मात् स अतरे, तस्य अतरे –धर्मस्य 'अमाति' न विद्यते माति –मान यस्मात् स तथा । पुन किम्भूतोऽखिङ्ग्विर ? 'अकदै' "दैव् शोधने" क्विवन्त, अकस्य–पापस्य दै –शोधन यस्मात् स तथा । पुन किम्भूतोऽखिङ्ग्विर ? 'अघस्मर' अनदनशील । पुन किम्भूतोऽखिङ्ग्विर ? 'सुश्री' "श्रिग् सेवाया" सुष्ठु श्रयति पुण्यकर्माणमित्येवशील सुश्री, "दिद्युद्दृ" [सि. हे ५।२।८३] इति सूत्रेण शीलादौ सत्यर्थे क्विपो निपात । पुन किम्भूतोऽखिङ्ग्विर ? 'अनेमि' नमतीत्येवशीलो नेमि, न नेमि अनेमि, तीर्थकृत्त्वात्, "सस्रिचक्रिदधिजज्ञिनेमि" [सि हे ५।२।३९] इत्यनेन सूत्रेण शीलादौ सदर्थे द्व्युवितमान् ङचन्तो निपात्यते इति नेमिशब्दनिष्पत्ति । पुन किम्भूतैर्लोकै ? 'अनतै' अनम्रीभूतै परतीर्थेषु । पुन किम्भूतोऽखिङ्ग्विर ? 'असुधे' असून्–प्राणान् धियति विचि असुधे, "धित् धृतौ" । पुन किम्भूतैर्लोकै ? 'अतोमरप्रष्ठै' न विद्यन्ते तोमरा –शस्त्राणि येषा ते अतोमरास्तेषा मध्ये प्रष्ठा.–विशिष्टा अतोमरप्रष्ठास्तैः । पुन किम्भूतैर्लोकै ? 'अदु खरजकै' दु ख नास्ति येभ्यस्ते अदु खास्तान् "रञ्जी रागे" रञ्जतीति अकि अदु खरजकास्तै, सुखकरजनरञ्जकैरित्यर्थ । पुन किम्भूतैर्लोकै ? 'अवनै' अवन्ति–लक्ष्मी वर्द्धयन्ति ये ते अनटि अवनास्तै । पुन. किम्भूतोऽखिङ्ग्विर ? 'अमत्सर.' मत्सररहित ॥२८॥

अकरणिररस्यौरस्तु कारण्डकौः! रो,

बधिरविखुरणाध्रोरश्च वारङ्गतोर ।

रुचिरखदिरदीप्तेरर्ध्यखोरर्त्तिहार!,

स्वदरवृदरपल्लूरस्य वैरङ्क! पूर! ॥२६॥

व्याख्या—'हे कारण्डक!' करण्डक एव कारण्डक., स्वार्थे अण्प्रत्यय, हे कारण्डक! । कस्य? 'र.' "ऋशब्द पावके सूर्ये धर्मे" [वि ए ११] इति वचनप्रामाण्याद् आ–धर्म, "ॠ दीर्घो देवमाता स्यादृभवस्तेन ते सुरा ॥ स्त्रीलिङ्गोऽय धने [वह्नौ, वासवे वरुणालये । वि ए १२–१३] इति वचनाद् आ–धर्म स एव ॠ ॠ, तस्य र–धर्मधनस्य, अमुना विशेपणेन धर्मधनालय इत्यर्थ । ॠ अग्रे ॠ इति सन्धौ "समानाना तेन दीर्घ" [सि हे १।२।१] इति दीर्घे ॠ, तदनु पष्ठचेकवचने 'र' इति निष्पत्ति । 'हे र कारण्डक!' हे धर्मधनालय! हे मित्र! 'अररस्य' भ्रमणस्य प्रस्तावात् ससारभ्रमणस्य, यदुक्तमुणादौ–"अरर कपाट वुध भ्रमण" [सि हे उ सू ३८७] इति, 'अकरणि' अविधानमेव 'अस्तु' भवतु, जन्मस्येति शेप । अकरणिरित्यत्र "नञोऽनि शापे" [सि हे ५।३।११७] इति सूत्रेणानिप्रत्यये न करण अकरणिरिति, न विधानमेवेत्यर्थ । कस्मात्? 'ओ' "उङ् शब्दे" विचि अवति–दानशीलतपोभावनारूप धर्म परिपदि शब्दयति योऽसौ औ, तस्माद् ओ–श्रीअरनाथजिनात् । किम्भूत हे र कारण्डक!? 'औ!' हे श्रीणक!। किम्भूताद् ओ? 'बधिरविखुरणाध्रो' बधिरा–श्रुतिविकला,

विशेषेण खुरणस –लघुनासिकावन्त पुमासः, वधिराश्च विखुर-णसश्च वधिरविखुरणस , "ध्रु गतिस्थैर्ययो " विचि ध्रौ , तेषां ध्रौ –स्थैर्य यस्मात् स वधिरविखुरणाध्रौ , तस्माद् वधिरवि-खुरणाध्रो , एवविधो 'अ ' न । पुनः किम्भूताद् ओ ? चकारः पादपूर्त्तौ, 'वारङ्गतो अ' "वारङ्ग काण्डखड्गयो " [सि. हे उ. सू ९९] इति उणादिवृत्त्याम्, वारङ्गै –खड्गै काण्डैर्वा तौति–हिनस्ति योऽसौ वारङ्गतौ तस्मात्, एवविध. 'अ' न, "तुल्यवृत्ति-हिसापूर्त्तिषु" इति ववनाद् विजन्त । पुन किम्भूताद् ओ. ? 'रुचिरखदिरदीप्ते ' "खदिरो दन्तधावनचन्द्रयोः" [अने. स. का ३ श्लो. ११४९] इति हैमानेकार्थोक्ते रुचिरः–मनोहरो यः खदिर –चन्द्र तद्वद् दीप्ति.–कायकान्तिर्यस्यासौ तस्मात् । पुनः किम्भूताद् ओ ? 'अ-र्घ्य-खो ' "खुड् ध्वनौ" विजन्त , अर्घ्या –पूजार्हास्ते खुवन्ति–ध्वनयन्ति गीतादिभिरिति यं स अर्घ्य-खौस्तस्मात् । [पुन.] किम्भूत हे र कारण्डक ! ? 'अर्त्तिहार !' पीडानाशक ! । पुनः किम्भूत हे र. कारण्डक ! ? 'वै. !' "ओवै शोषे" क्विपि वायति–शोषयति योऽसौ वै., तत्सम्बोधनं हे वै !–हे शोषक !, कस्य ? 'स्वदरवृदरपल्लूरस्य' सु–अतिशयेन अद-रवृदरावेव–सङ्ग्रामभयावेव पल्लूर–सित पयो–निर्मलपय. स्व-दरवृदरपल्लूर तस्य तथा । अदरवृदरशब्दौ औणादिकौ सङ्ग्रा-मभयवाचकौ, "पल्लूर तु सितं पय " [शेष सं. श्लो. १६३] इति शेष, जलवाचक. । पुनः किम्भूत हे रः कारण्डक ! ? अङ्गेति कोमलामन्त्रणे, 'हे पूर !' "पूर पूर्त्तौ" अजन्तः, पूरयति अभीष्ट-मिति पूर , तत्सम्वोधन हे पूर !, पूरकेत्यर्थ ॥ २९ ॥

यक्ष्यैरचोक्रू रपठै रमठचरः,
सत्कारभूनीरनयेरगत्वरः ।
सभ्यैरधीशैरधनैरपक्मरः,
कष्टैरनन्तैरदशैरकच्छुरः ॥ ३० ॥

व्याख्या—'सत्कारभूनी !' कारो–निश्चय तत्र तेन वा भवतीति कारभू –अग्रेसर, सन्तश्च–साधव कारभ्वश्च–अग्रेसरा: सत्कारभ्व, तेभ्योऽपि विशिष्टत्वेन अग्रेसरत्व नयति–प्राप्नोति योऽसौ तथा, तत्सम्बोधने हे सत्कारभूनी.।–श्रीअरनाथजिन। त्व "यक्ष पूजाया" यक्षे–पूजाया अर्हा यक्ष्यास्तैर्यक्ष्यै –साधुभि 'अचोक्रू.' अत्यर्थ ज्ञानक्रीडामकार्षी । किम्भूतैर्यक्ष्यै ? 'रपठै' विद्वद्भि, यदुक्तमुणादौ–"रपठ विद्वान् मण्डूकश्च" [सि हे. उ. सू. १६७]। किम्भूतस्त्वं? 'रमठचर' रमठा –क्रीडनशीला विद्यन्ते येषा ते रमठिनः–चक्रवर्त्तिनस्तेषा अर –सेवार्थ प्रापण यस्य स तथा, "ऋश् गत्या" अलन्त । यदुक्तमुणादिवृत्त्या–"रमठ देश कृमिजाति. क्रीडनशील. म्लेच्छ देवश्च चिलातानाम्" [सि हे. उ. सू १६७]। पुन किम्भूतस्त्व ? 'अनये' अनयस्य–कुनयस्य ईः–क्षेपो यस्माद् यस्य वा स तथा, "इल् क्षेपे" क्विबन्त । पुन किम्भूतस्त्व ? 'अगत्वर' अगमनशील, परदारादिष्विति गम्यते। पुन किम्भूतैर्यक्ष्यै ? 'सभ्यै' सभार्हैं । पुन किम्भूतैर्यक्ष्यै ? 'अधीशै' स्वामिभि, शिष्यादीनामिति गम्यते । पुन किम्भूतैर्यक्ष्यै ? 'अधनै' निर्धनै, यतित्वात् । पुन किम्भूतस्त्व? 'अपक्मर' "क्मर कौटिल्ये" अलन्त., अपगत. क्मर–कौटिल्य

यस्मात् स तथा। पुन किम्भूतैर्यक्ष्यै ? 'अनन्तै' न विद्यते अन्त –विनाशो येषा ते अनन्तास्तै अनन्तै –नाशरहितै । कै.? 'कष्टै' अशुभै । पुन किम्भूतैर्यक्ष्यै ? [१]'अदशै.' अवस्थाहीनै । पुन किम्भूतस्त्व ? 'अकच्छुर'[२] खर्जूरहित.[३] ॥३०॥

गुरुरनपरथा कं रङ्घदीरटचपार:,
खलु रचय रतीसारक्षकारण्यवीर: ।
विस्मरणपरस्मात्माऽऽरब्धनीरन्ध्रकोर-
घनरससुरभिर्लेरब्जदृग्रत्ननूर: ॥३१॥

व्याख्या—हे विभो ! त्व 'खलु' निश्चित 'क' सुख 'रचय' विधेहि। कथं ? 'अनपरथा' "प्रकारे था" [सि हे ७।२।१०२] इति थाप्रत्यये अपरथा–अतथा, न अपरथा अनपरथा–न अन्यथा प्रकारेण, प्रस्तावाद् एकयैव सेवया सुख कुरु इत्यर्थ । किम्भूतस्त्व ? 'गुरु' गरिष्ठ । पुन. किम्भूतस्त्व ? 'रङ्घदीरटचपार' "रघिड् गमने" रङ्घो–ज्ञान अलन्त, त ददति ये ते रङ्घदिय –ज्ञानदा, "दा दाने" क्विबन्त, "रट् भाषणे" अत एव रटन्ति–भाषन्ते इत्येवशीला रङ्घदीरटिन, तेषा न विद्यते पार –प्रान्तो यस्य स तथा। पुन किम्भूतस्त्व ? 'रतीसारक्षकारण्यवीर' "रति. स्मरस्त्रिया रागे" [अने. स का २।२०३] इत्युक्त. रति –राग, तस्या ई –प्रापण यस्या सा रती, रतीश्चासौ सा च–लक्ष्मी

१. "अवस्था तु दशा स्थिति" अभि. चिन्ता. का ६ श्लो १३।

२ "कच्छुर पुश्चले पामासहिते" अने. स का ३ श्लो. १११३।

३ "कण्डू. कण्डूयनं खर्जू" अभि चिन्ता का. ३ श्लो. १२८।

रतीसा, आरक्ष –रक्षको यः स रतीसारक्ष, "आरक्षो रक्षके" [अने स का ३ श्लो १३३०] इति हैमानेकार्थोक्ति, "कारण घातन हेतौ" [अने स का ३ श्लो ७६५] इति वचनात् कारण–घातन विद्यते येषा ते कारणिन –घातका, तेषा ई –नाशो यस्मात् स कारणी, "इल् क्षेपे" क्विबन्त, "वीरा गम्भारिकारम्भातामलक्येलवालुपु।" [अने स का ३ श्लो ४६३] इति वचनाद् न विद्यन्ते वीरा –रम्भाप्रायत्वात् स्त्रियो यस्यासौ अवीर, त्रयाणा कर्मधारये रतीसारक्षकारण्यवीर। पुन किम्भूतस्त्व? 'विमरणपरमात्मा' विगत मरण–मृतिर्यस्मात् स विमरण, परमश्चासौ आत्मा च परमात्मा, विमरणश्चासौ परमात्मा च विमरणपरमात्मा। पुन किम्भूतस्त्व? 'आरब्धनीरन्ध्रकोरघनरससुरभि' "कुरत् शब्दे" घबन्त, आरब्ध –प्रारब्धो नीरन्ध्र –दृढ कोर –शब्दो व्याख्यानावसरे येन स आरब्धनीरन्ध्रकोर, घनरस –कर्पूरस्तद्वत् सुरभि –सुगन्धो य स घनरससुरभि, आरब्धनीरन्ध्रकोरश्चासौ घनरससुरभिश्च तथा। पुन किम्भूतस्त्व? 'ने' "नी प्रापणे" नयति शर्म योऽसौ ने –नेता विजन्त। पुन किम्भूतस्त्व? 'अब्जदृग्रत्ननू' अब्जदृगि–कमलनयनानि यानि रत्नानि–स्वजातिश्रेष्ठा, "रत्न स्वजातिश्रेष्ठे स्यात्" [अने स का २ श्लो २६१] इति हैमानेकार्थोक्ति., अब्जदृग्रत्नै नूयते–स्तूयते योऽसौ तथा। 'अ' पादपूर्त्तौ ॥३१॥

संसारदुस्तरसुनीरधितारकानुर-

दृढचैरपातिरसितैरहसैरखर्परः।

सिद्धैरगायि रमतीरसितेरहोऽध्वरः,
ख्यातैरदातिर शतेरगतीरकूबरः ॥३२॥

व्याख्या—अध्वरशब्दस्तीर्थंकरनामवाची जिनसहस्रनाममध्ये पठितोऽस्ति, 'अध्वर' श्रीअरनाथजिन 'सिद्धै.' प्रसिद्धै श्रावकै 'अगायि' प्राप्त, "सिद्धो व्याडचादिके देवयोनौ निष्पन्नमुक्तयो । नित्ये प्रसिद्धे" [अने स. का २ श्लो. २६७] इति हैमानेकार्थोक्ते. । किम्भूतोऽध्वर ? 'ससारदुस्तरसुनीरधितारकानु.' संसार.—भव स एव दुस्तरसुनीरधि —शोभनजलराशिस्तस्मात् तारयन्ति ये ते संसारदुस्तरसुनीरधितारका, तेषु आ—समन्ताद् नु—स्तवनं यस्य स तथा । किम्भूतैः सिद्धै ? 'अदूढचै' दुष्ट ध्यायन्तीति "स्यादिभ्य क" [सि. हे ५।३।८२] इति के दूढचा —दुर्जना·, न दूढचा अदूढचास्तैः तथा, सज्जनैरित्यर्थ·, अत्र हि पृषोदरादित्वाद् दुसो दूभावो धस्य ढत्वे दूढच इति । पुन किम्भूतोऽध्वर.? 'अपाति' "पा पाने" पाति.—पानम्, न विद्यते पातिः—मदिरापान यस्य स तथा । पुन. किम्भूतै. सिद्धै ? 'असितै.' दीप्तै । पुन किम्भूतै. सिद्धै ? 'अहसै' "हसे हसने" अलन्त, न विद्यते हस —हसन येषु ते अहसास्तै. । पुन किम्भूतोऽध्वर.? 'अखर्पर' न सन्ति खर्परा·—धूर्ता यस्य स तथा, "खर्परस्तस्करे भिक्षापात्रे धूर्त्त-कपालयो" [अने स का. ३ श्लो. ११४७] इत्युक्ते । पुन किम्भूतोऽध्वर·? 'रमती' "रमु क्रीडे" "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि हे ५।३।१३८] इति तिवि रमति.—रमणं, प्रस्तावाद् मुक्तिश्रिया समं रमति—क्रीडन एति—प्राप्नोति योऽसौ तथा । पुन किम्भूतो-

ऽध्वर ? 'असिते' न सिता असिता—अबद्धा ई—लक्ष्मीर्यस्यासौ तथा, अत्यन्तलक्ष्मीदानदायक इत्यर्थ, धर्मकार्यसावधानत्वेन। पुन किम्भूते सिद्धे ?'ख्याते' प्रसिद्धे । 'अहो!' इत्याश्चर्ये। पुन· किम्भूतोऽध्वर ? 'अदाति' "दावक् लूनौ" क्तिप्रत्ययान्त, न विद्यते दाति—लवन यस्य स तथा। अकार. पादपूरणार्थ । पुन किम्भूतोऽध्वर ?'शतेरगती' शतेर—वायुस्तद्वद् गतिर्येषा ते शतेरगतय—साधव तेषा ई—लक्ष्मीर्यस्मात् स तथा, शतेर-शब्द औणादिको वायुवाचक.। पुन. किम्भूतोऽध्वर ? 'अकूबर' अकुब्ज., "कूबर पुन । कुब्जे [युगन्धरे रम्ये ।" अने स का. ३ श्लो ११४३] इति वचनात् ॥३२॥

अविरतमर! तुष्टोरस्कतौरर्हदीरः,
प्रचुरय विरजं कारम्भभूरर्जसोरः।
यतिरकुचररासेरस्थवैरप्रजौर-
स्तिमिरखिदिरतम्यारत्विडा रक्षितारः ॥३३॥

व्याख्या—हे 'अर!' हे अरनाथजिन! त्व 'अविरत' निरन्तर 'विरज' विगत रज.—पापमलो यस्मात् स विरज—धर्मस्त विरजं 'प्रचुरय' बहुलीकुरु। किम्भूतस्त्व ? 'तुष्टोरस्क-तौ' तुष्ट उरो यस्मात् स तुष्टोरस्क, "दध्युर.सर्पिर्मधूपान-च्छाले." [सि हे ७।३।१७२] इति सूत्रेण बहुव्रीहे. कच् समा-सान्तः प्रत्ययो जात, तुष्टोरस्क—धन, त तौति—पिपर्ति क्विचि तुष्टोरस्कतौ, धनपूरक इत्यर्थ । पुन किम्भूतस्त्व ? 'अर्हदीर.'

रागद्वेषकषायपरीषहोपसर्गेन्द्रियकर्माष्टकादिरूपाणामान्तराणामरीणां बध्यमानकर्मरूपस्य रजसो वा हन्तारो ये ते पृषोदरादित्वाद् अर्हन्त, तेषां ई–लक्ष्मीस्तया राजते योऽसौ तथा। पुन. किम्भूतस्त्व ? 'कारम्भभू' "आरम्भस्तु वधदर्पयो । त्वरायामुद्यमे चापि" [अने. स का. ३ श्लो. १०४९, १०५०] इति हैमानेकार्थोक्ते: कं–सुख तद्धेतुत्वात् क–सयमस्तस्य य आरम्भ.–करणायोद्यम तस्य भू.–उत्पत्तिस्थान यः स कारम्भभू. । पुन. किम्भूतस्त्व ? 'अर्जसोर.' "अर्ज सर्ज उपार्जने" अजन्त, अर्जयन्ति–धर्मधनमुपार्जयन्ति ये ते अर्जा–श्रावकास्तेषां सोर:–ऐश्वर्य यस्मात् स तथा, "सुरत् ऐश्वर्ये" घञन्त । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'यति' साधु । पुनः किम्भूतस्त्व ? 'अकुचररासेरसी' "कुवारकुचरौ समौ" [अ. चि. ३।१२] इति वचनात् कुचरा–कुत्सितवक्तार, न कुचरा अकुचरा:–सम्यग्वक्तार:, तै. सह रासेरसः–गोष्ठी विद्यते यस्य स तथा, "रासेरसो रसासिद्धिवलौ शृङ्गारहासयो । षष्ठीजागरके रासे गोष्ठ्याम्" [अने. स. का ४ श्लो. १७०५] इति वचनप्रामाण्यात् । पुन. किम्भूतस्त्व ? 'अवैरप्रजो.' न विद्यते वैर–विरोधो यस्यां सा अवैरा, सा चासौ प्रजा च–सन्ततिर्गणधरादिका तां अवति–वर्द्धयति योऽसौ तथा, "प्रजा लोके सन्ततौ च" [अने. सं का. २. श्लो. ८७] इति वचनात् । पुन. किम्भूतस्त्वं ? 'अ.' अर्हन्, "अः स्यादर्हति सिद्धे च" इति वचनप्रामाण्यात् । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'तिमिरखिदिरतस्यारत्विट्' तिमिराणि–रोगा: कासश्वासभगन्दरज्वरादय:, "तिमिर तमः तोय रोगश्च" [सि. हे. उ. सू. ४१६] इति उणादि-

वृत्तौ, खिदिर –ग्राम शत्रुसमुद्भव, "खिदिर ग्रास" [सि हे उ सू ४१६] इति उणादिवृत्त्या, तिमिराणि च खिदिरश्च तिमिरखिदिरौ, तावेव तमी–रात्रिस्तस्या "असूच् क्षेपे" क्विवन्त आ–समन्ताद् अस् आ, तत्र रत्विड् इव–तीव्ररोचिरिव योऽसौ तिमिरखिदिरतम्यारत्विट् । पुन किम्भूतस्त्व ? आकार पादपूरणार्थ, 'रक्षितार' रक्षिता–पालिता आ–समन्ताद् रा – समृद्धिर्येन स तथा, "रा लक्ष्मी रा समृद्धि स्यात्" [सौ ए. ८२] इति सौभरि ॥३३॥

वृन्दारकागरजिनोरसमौरकर्बुरः,
प्राज्ञैरसारि रदमौरशरैरनिर्वरः ।
भव्यैरसालिरभसैरनिभैरजर्जर–
दुर्वारकङ्करविदैरजितैरसंस्तरः ॥ ३४ ॥

व्याख्या—'प्राज्ञै' विद्वद्भि 'असारि' प्राप्त । क ? 'वृन्दारकागरजिनोरसमौ' वृन्द–यतिवृन्द श्रावकवृन्द वा देववृन्द वा राजवृन्द वा विद्यते यस्यासौ वृन्दारक, "वृन्दादारक" [सि हे. ७।२।११] इति सूत्रेण मत्वर्थे आरकप्रत्यय, न विद्यते गर –विष विषयविष यस्मात् स अगर, जिनाना–अष्टाविंशतिशतसङ्ख्याकाना सामान्यकेवलिना उर –[मुख्य]जिनोरस, केवलिनामुत्तम इत्यर्थ, "उरसोऽग्रे" [सि हे ७।३।११४] इति सूत्रेणोरस्शब्दात् तत्पुरुषादट् समासान्तो जात, मा–शोभा अवति–विदधाति योऽसौ मौ –शोभाकर, अत्र अवधातु करणार्थो ज्ञेय, वृन्दारकश्चासौ अगरश्चासौ जिनोरसश्चासौ मौश्च

वृन्दारकागरजिनोरसमौ.—श्रीअरनाथजिन गुरुत्वेन देवत्वेन वा। किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमौ ? 'अकर्वुर.' "कर्वुरो राक्षसे पापे" [अने. स. का. ३ श्लो. ११२८] इत्युक्तेः नास्ति कर्वुर—पाप यस्यासौ तथा। [पुन] किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमौ.? 'रदमौ ' रत—सुरतं करोति, "तत्करोति तदाचष्टे" इति [पाणिनि-गणसूत्रेण] रतयते रतयतीति णिजि तल्लुकि क्विपि तल्लुकि च रत्, तस्मादमति—गच्छति योऽसौ रदम., औ —पालक , रदमश्चासौ औश्चेति कर्मधारये रदमौ.। किम्भूतै. प्राज्ञै ? 'अगरै ' वाण-रहितै , निष्क्रोधत्वात्। पुन. किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमौ ? 'अनिर्वर ' "निर्वरं तु गतत्रपे" [अने. स. का ३. श्लो. ११६९] इति वचनाद् न निर्वरः अनिर्वर., सलज्ज इत्यर्थ.। पुन· किम्भूतैः प्राज्ञै ?'भव्यै ' मनोहरै.। पुन. किम्भूतैः प्राज्ञैः? 'अमालि-रभसै ' "अम गतौ" गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् अमस्य—ज्ञानस्य आलि.—श्रेणिः अमालि तया रभसः—औत्सुक्य वादार्थं येषा ते तथा तैः। पुन किम्भूतैः प्राज्ञै· ? 'अनिभै.'[2] निर्व्याजै.। पुन. किम्भूतै. प्राज्ञै.? 'अजितै ' अपराभूतै·, कै ? 'अजर्जरदुर्वारक-ङ्करविदै' "जर्जरस्तु, वासवध्वजजीर्णयो." [अने. स. का. ३ श्लो. ११५७] इत्युक्ते. न जर्जरा अजर्जराः—अजीर्णाः, नवीना इत्यर्थ·, दुर्वारा —वारणागक्या· कङ्करा.—कुत्सिताः, मिथ्याकथ-कत्वात्, "कङ्करं कुत्सिते" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११३०] इति वचनप्रामाण्यात्, त्रयाणां कर्मधारये अजर्जरदुर्वारकङ्कराश्च ते

---

१ "उरो वक्षसि मुख्ये स्यात्" इति अने स कां. २ श्लो. ५८०।

२. "निभ. स्यात् सदृशे व्याजे" अने. सं. का. २ श्लो. ३२२।

विदाश्च-विदन्ति-जानन्तीत्यचि विद्वासस्तै अजर्जरदुर्वारकङ्क-रविदै.। पुन किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमौ ? 'असस्तर' "सस्तर. प्रस्तरे मखे" [अने स का ३ श्लो १२१५] इत्युक्ते न विद्यते सस्तर.-यज्ञ यस्य स तथा ।।३४।।

प्रभुरचतुरवित्तारक्षवैरङ्गिकार:,
शुभरथविरहक्षोऽरम्रशारण्यसौर: ।
अनरणिररिष्टेरङ्गरेऽरङ्गजूर:,
प्रटुरकृतिरराकाऽऽरक्षपूरम्यखोर ! ।।३५।।

व्याख्या—'अङ्गरे' !' इति सम्वोधनार्थमव्ययम् । 'हे अम्यखोर !' "अम भजे" अमतीत्येवशीलोऽमी-भजक., न खोर अखोर-अखञ्ज, अमी चासौ अखोरश्च अम्यखोर-स्तदामन्त्रण हे अम्यखोर।-हे मित्र।, 'पटु' रोगविहीन श्री-अरनाथजिन, "पटुस्तीक्ष्ण-पटोलयो । स्फुटे रोगविहीने च" [अने स का २ श्लो. १०८] इत्युक्ते, 'अरिष्टे' "अरिष्ट सूत्यगारेऽन्तचिह्ने तक्रे शुभे" [अने स का. ३ श्लो. ७५०] इति वचनप्रामाण्याद् अरिष्टस्य-शुभस्य ई-क्षेपो यस्मात् स अरिष्टे-स्तस्य अरिष्टे:-पापस्य 'अनरणि' न अरण अनरणि, "नञोऽनि शापे" [सि हे ५।३।११७] इति अनिप्रत्यय, अनरणि-अत्राण-मेव विदधातु इति शेप । किम्भूत पटु:? 'प्रभु' स्वामी। पुन किम्भूत पटु ? 'अचतुरवित्तारक्षवैरङ्गिकार' अविद्य-मानानि अदृश्यानि वा चत्वारि घातिकर्माणि येषा ते अचतुरा नञ्सुव्युपत्रेश्चतुर." [सि. हे ७।३।१३१।] इत्यनेन नञ्-प्रत्ययात् परस्य चतुर्शब्दस्य वहुव्रीहेरप्समासान्तप्रत्यये अच-

तुरा—केवलिन द्वाविंशतिशतसङ्ख्याका, "वित्त विचारिते ख्याते, धने" [अने. स का. २ श्लो. २०६] इति वचनात् तेषां वित्त—धन सयमलक्षणं तस्य आरक्षा—समन्ताद् रक्षण यस्य स अचतुरवित्तारक्ष, वेरङ्गिका—विरागार्हास्तै आरज्यतीति "क्वचिड्ड"[1] [सि हे. ५।१।१७१] इति डे वेरङ्गिकार, अचतुरवित्तारक्षश्चासौ वैरङ्गिकारश्च तथा। पुन किम्भूत. पटु ? 'शुभरथविरहक्ष' "रथस्तु स्यन्दने पादे" [अने. स का २ श्लो २३३] इति वचनात् शुभौ—भद्रौ रथौ क्रमौ यस्यासौ शुभरथ, विरह क्षयतीति विरहक्ष., शुभरथश्चासौ विरहक्षश्च तथा। पुन किम्भूत पटु ? 'अरम्रशारण्यसौर.' "रमिं क्रीडाया" "भीवृधिरुधिवज्यगिरमि" [सि हे उ सू. ३८७] इत्यौणादिके रप्रत्यये रम्र—कामुक, न रम्र अरम्र—अकामुक, शरण्यमेव शारण्यम्, स्वार्थे अण्, शरणयोग्यम्, सूरीणा समूह सौरम्, शारण्य च तत् सौर च यस्यासौ शारण्यसौर, अरम्रश्चासौ शारण्यसौरश्च तथा। पुन किम्भूत पटु ? 'इ' पवित्र, गुणवत्त्वात्, "इ. काम. स्थाणुरिन्द्रोऽर्को, वरुण: पादपो द्विप। शुचि" [सौ ए ४] इत्युक्तेः। पुन. किम्भूत: पटु ? 'अरङ्घजूर.' "रघिक् भासि" अलन्त, रघो—दीप्ति "जुर्य इज्यानौ वधे" ("जूरैच् हानौ वधे"), तेन जूर्यते—हीनो भवति योऽसौ रङ्घजूर', न रङ्घजूर. अरङ्घजूर, प्रत्यह प्रत्यह दीप्त इत्यर्थ। पुन. किम्भूत· पटु ? 'अकृति.' "कृञ् वधे" क्तिप्रत्ययान्त', नास्ति कृतिर्यस्यासौ तथा। पुनः किम्भूत पटु ?

---

१. "क्वचित्" इति सूत्र, ड इत्यस्य त्वनुवृत्ति ।

'अराकारक्षपू ' राका –दातार., न राका अराका –कृपणास्तेषा आ–लक्ष्मीस्ता रक्षति–पालयति या सा अराकारक्षा, एवविधा पू.–शरीरं यस्य स अराकारक्षपू ॥ ३५ ॥

पपर प्रकरणावेरर्द्धपूरण्यभेर-
जितरवपरपुष्टाः ! रद्धधीरङ्गचधेर !।
सुनुरशिखरदप्येरर्घ्यधोरप्रभोर-
कनिरतवरधर्त्तारः कपारय्यदोर ॥३६॥

व्याख्या—अकार सम्बोधनार्थमव्ययम्। हे 'अर्द्धपूरण्यभेरजितरवपरपुष्टा !' "ऋधूच् वृद्धौ" घञन्त, अर्द्धेन–समृद्धया "पूरैचि आप्यायने" पूरणशीला –वर्द्धनशीला ये ते अर्द्धपूरणा –व्यवहारिण, ते विद्यन्ते येपा ते अर्द्धपूरणिन, भेरा –कातरा, न भेरा. अभेरा –शूरा, जित –अभिभूतो रवेन–शब्देन परपुष्ट –कोकिलो यैस्ते जितरवपरपुष्टा, अर्द्धपूरणिनश्च ते अभेराश्च ते जितरवपरपुष्टाश्च अर्द्धपूरण्यभेरजितरवपरपुष्टास्तेषा आमन्त्रण हे अर्द्धपूरण्यभेरजितरवपरपुष्टा !–हे राजान ! यूय 'पपर' प्रीता अभूत, "पृट् प्रीतौ" इति धातो परोक्षाया मध्यमपुरुपवहुवचनेपु रूपम्। कस्मात् ? 'प्रकरणावे' प्रकरणस्य–प्रस्तावस्य अवि –ज्ञान यस्मात् स तथा, तस्मात् प्रकरणावे –श्रीअरनाथतीर्थकृत, "अव गतौ" गत्यर्थाना ज्ञानार्थत्वात् "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि हे ५।३।१३८] इति इप्रत्यय। किम्भूतात् प्रकरणावे ? 'रद्धधीरङ्गचधे' "रधौच् हिंसासराद्धयो" वेट्त्वात् क्तयोर्नेट्, रद्धा–पक्वा धी –वुद्धि येषा ते रद्धधिय, "रगि गतौ" गत्यर्थाना प्राप्त्यर्थत्वाद् रङ्गचा·–प्राप्तु

योग्या, रुद्धधियश्च ते रङ्गचाश्च रुद्धधीरङ्गचास्तान् धियति-दधाति योऽसौ रुद्धधीरङ्गचधेस्तस्मात्, "धित् धृतौ" विजन्त । पुन किम्भूतात् प्रकरणावेः ? 'सुनु.' सुष्ठु ना सुना, तस्मात् सुनु –शोभनपुरुषात् । पुन किम्भूतात् प्रकरणावे ? 'अशिखर-दप्ये' शिखराग्रमिव दन्ता येषां ते शिखरदन्त, "वाऽग्रान्त-शुद्धशुभ्रवृषवराहाहिमूषिकशिखरात्" [सि हे. ७।३।१५४] इत्यनेन सूत्रेण शिखरशब्दात् परस्य दन्तशब्दस्य बहुव्रीहौ दत्रादेशे समासान्ते शिखरदन्, न शिखरदन्तोऽशिखरदन्त, "प्यैङ् वृद्धौ" विचि तैः प्यायते योऽसौ अशिखरदप्यैस्तस्मात् । पुन. किम्भूतात् प्रकरणावे ? 'अर्घ्यधोरप्रभो' "धोर्ऋ गति-चातुर्ये" अचि धोराः–चतुरा, अर्घ्याश्च ते–पूजनीया धोराश्च चतुरा अर्घ्यधोरा, तेषा प्रभु –स्वामी योऽसौ तथा तस्मात् । किम्भूता. अर्द्धपूरण्यभेरजितरवपरपुष्टा ? 'अकनिरतवरधर्त्तार' "कं सुखं तोयं पयो दु ख" [सौ. ए. २०] इत्युक्ते क–दु ख, न क अक–सुख, तत्र निरता –आसक्ता ये ते अकनिरता. "वृङश् सम्भक्तौ" वृणन्तीति वरा.–सेवका, अकनिरताश्च ते वराश्च अकनिरतवरास्तेषा धर्त्तारो ये ते तथा । पुन किम्भूतात् प्रकरणावे ? 'कपारय्यदो' क–सुख पारयन्ति–पूरयन्तीति कपारया –भव्यजनास्ते श्रावकत्वेन विद्यन्ते यस्य स कपारयी, "टुदुट् उपतापे" विचि न दुनोतीति अदौ, कपारयी च अदौश्च कपारय्यदौस्तस्मात् । अकार पादपूरणार्थमव्ययम् ॥ ३६ ॥

सोऽकारयद् वरक ! हारकदारजीवरः
सर्मं रमण्यरणतेरपचारकर्षिरः ।

नेतार आशिरपमारय आरवन्त्यर-
मर्हीर प्रत्युरसनौरलभूरशावरः ॥३७॥

व्याख्या—'हे वरक !' हे मित्र !, यदुक्तमुणादिवृत्तौ—"वरक वधूजानि सहाय वाजसनेयभेदश्च" [सि हे उ सू २७] इति । 'नेतार' प्रस्तावात् मुक्षप्रापका पुरुषा 'अर' शीघ्र 'आरवन्ति' समन्तात् शब्दयन्ति । कि तत् ? 'स' अरनाथजिन. 'सर्म' सुख, यदुक्तमुणादौ—"सर्म[1] स्नान[2] सुख च" [सि हे उ सू ३३८] इति, 'अकारयत्' अकरोदित्यर्थ, स्वार्थे णिजन्तत्वाद् णिगर्थो न प्रतिपाद्यते, यथा—"रामो राज्यमकारयत्"। कस्य ? 'रमण्यरणते' रमण्या—शोभना, "रमण्य शोभन" [सि हे उ सू ३७६] इति उणादिवृत्तौ, "रा लक्ष्मी" [सौ ए ८२] इत्युक्ते रमण्या—शोभना रा—लक्ष्मीर्यस्यासौ रमण्यर, "ण प्रकटे" [सु ए २२] इति सुधाकलशोक्ते "पूजाया ति स्त्रिया" [वि ए ६१] इत्युक्ते णा—प्रकटा तय—पूजा यस्यासौ णति, रमण्यरश्चासौ णतिश्च रमण्यरणतिस्तस्य रमण्यरणते—श्रावकजनस्य । किम्भूत स ? 'हारकदारजीवर' हारकस्य—कितवस्य "हारको गद्यविज्ञानभिदो कितवचौरयो" [अने स का ३ श्लो ७०६] इति वचनप्रामाण्यात्, दार—विदारण यस्मात् स हारकदार, जीवर—दीर्घायु, यदुक्तमुणादौ—"जीवर दीर्घायु" [सि हे उ सू ३९७] हारकदारश्चासौ जीवरश्च हारकदारजीवर । पुन किम्भूत स ?

---

१ "सर्म-शर्मे नान्ताऽदन्ते, दन्ततालव्यादे मते ॥४॥" शब्दरत्नाकर का ६ २ "स्थान" इति मुद्रिते ।

'अपचारकर्षिर' अप–गतश्चारक–कारो येषा ते अपचारका, "चारकोऽश्वादिपाले स्याद् बन्धे" [अने स का ३ श्लो ६४५] इति वचनप्रामाण्यात्, अपचारकाश्च ते ऋषयश्च–साधव. अपचारकर्षयस्तै राजति–दीप्यते योऽसौ तथा। किम्भूता नेतार ? 'आशिरपमारय' आशिरा इव–आदित्या इव ये ते आशिरा, यदुक्तमुणादौ–"आशिर [विष्णु.] आदित्यश्च" [सि हे उ सू ४१५] अप–गता मारिर्येभ्यस्ते पमारय., यदुक्त–"वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो." [पा सि को. पृ १०६] इति, आशिराश्च ते पमारयश्च आशिरपमारय। पुन किम्भूत स ? 'अर्हो' "वस निवासे" क्विबन्त., अर्ह–योग्य उस्–वासो मुक्तिगृह यस्यासौ तथा। अकार पादपूर्त्तौ। पुन किम्भूत स ? 'प्रत्युरसनौ' उरसि वर्त्तते देवत्वेन येषा ते प्रत्युरसा, यद्वा उरसि देवत्वेन प्रतिष्ठितो यैस्ते प्रत्युरसा–श्रावकास्तेभ्यो नौ–स्तुतिर्यस्मात् स तथा। पुन किम्भूत स ? 'अलभू' "अल वारणपर्याप्तिभूषासु" इति वचनाद् अलन्त, अलस्य–भूषाया भू–स्थान य स तथा। पुन किम्भूत स ? 'अशावर' "शावरो रोध्रपापयो." [अने स का ३ श्लो. १२०६] इत्युक्ते न विद्यते शावर–पाप यस्य यस्माद्वा स तथा॥३७॥

सज्जूरनश्वर ! सुसोर किशोरभास्वर:,
कर्पूरहृत्करगुणोऽरथकारमेधिर: ।
सच्छारदीनरधनैरविशारदागर-
प्राग्भारविड्वरवियुक् रदनौरमन्थर: ॥३८॥

व्याख्या—'हे अनश्वर !' "नशौच् अदर्शने" नश्यतीत्येवशीलो नश्वरः, "सृजीण्नशष्ट्वरप्" [सि हे ५।२।७७] इत्यनेन शीलादिसदर्थे ट्वरप् प्रत्ययः, न नश्वरः अनश्वरः, तत्सम्बोधनं हे अनश्वर !—हे सखे ! 'सज्जूः' "जु गतौ" सौत्रो धातुः, सत्सु—साधुषु जुवति—गच्छतीत्येवशीलः सज्जूः, दिद्युद्दृज्ज०" [सि हे ५।२।८३] इत्यादिसूत्रेण शीलादौ सत्यर्थे क्विप् निपातः, 'सुसोर' शुशुभे। किम्भूतः सज्जूः ? 'किशोरभास्वरः' किशोराः—तरुणाः प्रस्तावाच्छिष्यास्तैः भास्वरः—मनोज्ञो योऽसौ तथा, शिष्यशोभन इत्यर्थः। पुनः किम्भूतः सज्जूः ? 'कर्पूरहृत्करगुणः' कर्पूरश्च—घनसारः हृत्करश्च—ईश्वरस्तद्वद् निर्मला गुणा यस्य स कर्पूरहृत्करगुणः। पुनः किम्भूतः सज्जूः ? 'अरथकारमेधिरः' "रथकारस्तक्षणि स्यान्माहिष्यात् करणीसुते।" [अने स का ३ श्लो १६४६] इति वचनप्रामाण्याद् रथकाराः—क्षत्राद् वैश्यायां जातो माहिष्यः, वैश्याच्छूद्रायां जाता करणी, तयोः सुतः रथकारः, न रथकाराः अरथकाराः—उभयपक्षशुद्धा मेधिराः—मेधाविनो यस्यासौ तथा, मेधिर इत्यत्र "मेधारथान्नवेरः" [सि हे ७।२।४१] इत्यनेन सद[मत्व]र्थे इरप्रत्यये मेधिर इति निष्पत्तिः। पुनः किम्भूतः सज्जूः ? 'सच्छारदीनरधनैः' शरदि भवः शारदीनः—चन्द्रः सताः—सज्जनानां आह्लादकत्वेन शारदीन इव शारदीनः सच्छारदीनः, "रधौच् हिंसासंराध्योः" रध्यन्ति—घ्नन्ति जीवान् इति अनटि रधनाः—हिंसकास्तेभ्यः एति—याति योऽसौ रधनैः, सच्छारदीनश्चासौ रधनैश्च सच्छारदीनरधनैः। पुनः किम्भूतः सज्जूः ? 'अविशारदागरप्राग्भारविड्वरवियुक्' आः—जनाः "अः कृष्ण-

शङ्करो ब्रह्मा शक्र. सोमोऽनिलोऽनल. । सूर्य -प्राणो जन." [सौ ए २] इति वचनात्, तेषा मध्ये विशारदा –विद्वासो ये ते अविशारदास्तान् आगरयन्ते–समन्ताद् विजानन्ति ये ते अविशारदागरा "गृकङ् (गृणि) विज्ञाये विज्ञाने च" तेषा प्राग्भार –आधिक्य यस्मिन् स अविशारदागरप्राग्भार., विड्वर –शत्रूद्भवस्तेन वियुग्–रहितो योऽसौ विड्वरवियुक्. अविशारदागरप्राग्भारश्चासौ विड्वरवियुक् चेति कर्मधारय. । पुन. किम्भूत सज्जू ? 'रदनौ' रदनै –दन्तै अवति–दीप्यते योऽसौ तथा । अविशारदागरप्राग्भारविड्वरवियुक् अग्रे रदनौरित्यत्र "न सन्धि." [सि हे. १।३।५२] इत्यनेन सूत्रेण सन्ध्यकरणमदुष्टम् । पुन किम्भूत. सज्जू. ? 'अमन्थर' अवक्र, सरल इत्यर्थ, "मन्थर. सूचके कोशे, वक्रे" [अने. सं का. ३ श्लो ११९०] इति वचनप्रामाण्यात् ॥३८॥

बुद्धैरबोधि रतिभूरशनैरनम्रर-
नम्रैरसूतिरयमेरदरैरदुर्द्धरः ।
सेव्यैरकच्चरवरैरमभैरसेश्वरः,
साक्षैरनूतिरदहैरपरैरसुर्मुरः ॥३९॥

व्याख्या—'बुद्धै' पण्डितै 'अय' साम्प्रत वर्ण्यमानो गुर्र्जिन. 'रतिभू.' राश्च–दृढा तयश्च–पूजा रतयस्तासा भू –स्थानं रतिभू 'अबोधि' ज्ञात, श्रीअरनाथजिन पण्डितै पूजास्पदं ज्ञात इत्यर्थ. । कथं ? 'अशनै.' शीघ्रम् । किम्भूतै ? 'अनम्ररनम्रै.' "अद प्साक् भक्षणे" अदन्तीत्येवशीला "सृघस्यदो मरक्" [सि हे. ५।२।७३] इत्यनेन शीलादिसदर्थे मरक्प्रत्यये

अघ्नरा.–भक्षणशीला , न अघ्नरा अनघ्नरा , नम्रा –नमनशीला , अनघ्नराश्च ते नम्राश्च अनघ्नरनम्रास्तै । किम्भूतोऽय ? 'असूति ' न विद्यते सूति –जनन यस्य स तथा । पुन किम्भूतोऽय ? 'ए ' एति–शिवश्रिय प्राप्नोति योऽसौ तथा, "इण् गतौ" विजन्त । पुन किम्भूतैर्बुद्धे ? "अदरै ' भयरहितै । पुन किम्भूतोऽयम् ? 'अदुर्द्धर ' नोत्कट इत्यर्थ । पुन किम्भूतैर्बुद्धै ? 'सेव्यै ' सेवार्हैः । पुन किम्भूतैर्बुद्धै ? 'अकच्चरवरै ' "मलिन कच्चर" [अ चि ६।७१] इत्युक्ते न कच्चरा अकच्चरा –गुणनिर्मला , अत एव वरा –श्रेष्ठा ये ते अकच्चरवरास्तै । पुन किम्भूतैर्बुद्धै ? 'अमभै ' "अम गतौ" गत्यर्थाना ज्ञानार्थत्वाद् अलन्त , अमेन–ज्ञानेन भाति–शोभते अमभास्तैः । पुन किम्भूतोऽय ? 'असेश्वर ' "असूच् क्षेपे" अचि अस्यन्ति–चत्वारि घातिकर्माणि क्षिपन्ति ये ते असा – सामान्यकेवलिनस्तै ईष्टे योऽसौ, "स्थेशभासपिसकसो वर " [सि हे ५।२।८१] इत्यनेन शीलादिसत्यर्थे वरप्रत्यये असेश्वर । पुन किम्भूतैर्बुद्धै ? 'साक्षै ' सह अक्षै –इन्द्रियै वर्तन्ते इति साक्षास्तै । पुन किम्भूतोऽयं ? 'अनूति ' "अव वधे" क्तौ ऊति , न विद्यते ऊति –वधो यस्मिन् स तथा । पुन किम्भूतैर्बुद्धै. ? 'अदहै " दहो–दाह , न दहन्तीति अदहास्तै । पुन किम्भूतैर्बुद्धै ? 'अपरै ' अप–गतो र –कामो येभ्यस्ते तथा तै , "र कामे" [सु ए ३६] इत्युक्ते , गतकामै । पुन किम्भूतोऽय ? 'अमुर्मुर ' निर्मन्मथ , "मुर्मुरो मन्मथे" [अने स का श्लो ११९७] इति वचनप्रामाण्यात् ।। ३९ ।।

कविरमसुरसंस्कारः पदारप्रभारः,
प्रसुर उदरभूसीरः कुटारः कुबेरः।
चतुरकदरकेदारप्रनग् रद्विचारः,
शबरविधुरशृङ्गारक्षरोरङ्गचहोरः ॥ ४० ॥

व्याख्या—'प्रसुर' "सुरत् ऐश्वर्यदीप्त्यो" प्रसुरति—प्रदीप्यते जगति यतिषु [वा] योऽसौ अचि प्रसुर—श्रीअरनाथजिन भद्र क्रियाद् इति शेष। किम्भूत प्रसुर? 'कवि' विद्वान्। पुन किम्भूत प्रसुर? 'अमसुरसस्कार.' "मसूरो मसुरोऽपि च। मसुरा च मसूरा च, चत्वार पण्ययोषिति॥ तथा व्रीहिविशेषेऽपि" [अने स का. ३ श्लो ११६१, ११६२] इति वचनप्रामाण्याद् न विद्यन्ते मसुरा—पण्ययोषितो येषा ते अमसुरा—सुशीला श्रावकास्तै सह संस्कार—अनुभवन यस्य स तथा, "सस्कार प्रतियत्नेऽनुभवे" [अने स का ३ श्लो १२१६] इत्युक्ते। पुन किम्भूत प्रसुर? 'पदारप्रभार' [पदारे—] पादालिन्दे—पादपीठे, "पदार पादधूलिपु। पादालिन्दे" [अने स का ३ श्लो. ११७४] इति हैमानेकार्थोक्ते, प्रभया—कान्त्या राजते—दीप्यते योऽसौ तथा। पुन किम्भूत प्रसुर? 'उदरभूसीर' उदरमेव—व्याधिरेव भू उदरभू—व्याधिपृथ्वी, तस्या विदारणे सीर इव—लाङ्गलमिव योऽसौ तथा। पुन किम्भूत प्रसुर? 'कुटार' रत, अर्थात् शिवश्र्यासक्त इत्यर्थ, "कुटार[1] केवले रते" इत्युक्ते वाच्यलिङ्ग। पुन किम्भूत प्रसुर? 'कुबेर' धनेन कुबेर इव—

१ "कुटीर कम्बले रते" इति पाठा अने स का ३ श्लो ११४२।

वनद इव योऽसौ तथा। पुन किम्भूत प्रभुर ? 'चतुरकदर-केदारप्रनग्' चतुराणा–विदुष स्तुतिकर्तॄणा कदर –क्षुद्ररोग कुष्ठादि. स एव केदार –आलवालस्तस्य "नशौच् अदर्शने" क्वि-वन्त., प्रनशन प्रनक्, प्रनग्–अदर्शन–नशन यस्मात् स चतुर-कदर[केदार]प्रनग्, "कदर श्वेतखदिरे, क्रकचक्षुद्ररोगयो ॥" [अने स का ३ श्लो ११२६] इत्युक्ते., "केदार क्षेत्रभिद्याल-वाले" [अने स का ३ श्लो ११४५] इत्युक्ते । पुन. किम्भूत प्रभुर ? 'रद्विचारः' "रम क्रीडाया" "गमा क्वौ" [सि हे ४।२। ५८] इति क्विपि [मकारलुकि] रमन्ते ज्ञानश्रिया सम ये ते रत –पण्डितास्तै सह विचारो–विचरण यस्य स तथा। पुन किम्भूत प्रभुर ? 'शबरविधुरश्रृङ्गारक्षरो ' शबराः–म्लेच्छा. विधुरा –विकलाः, ग्रथिला इत्यर्थ , "विधुर स्यात् प्रतिश्लेषो (प्रविश्लेषे), विकले" [अने स का. ३ श्लो १२०४] इत्युक्ते , श्रृङ्गार –सुरत , "श्रृङ्गारो गजमण्डने, सुरते" [अने स का ३ श्लो १२१४]इत्युक्ते , शबराश्च विधुराश्च श्रृङ्गारश्च शबरविधुर-श्रृङ्गारा , तेभ्य क्षरन्ति–चलन्ति ये ते शबरविधुरश्रृङ्गारक्ष-रास्तेपा उ –पालन यस्य स तथा, "रक्षार्थवाचकावेतौ, व्या-ख्यातौ लघुदीर्घकौ।" [वि ए ११] इति विश्वशम्भूक्ते । पुन किम्भूत प्रभुर ? 'अङ्ग्यहोर ' "अगि गतौ" यवन्त , अङ्ग्या – प्रापणीया होरा–शास्त्राणि प्रस्तावाद् आचाराङ्गादीनि सिद्धा-न्तानि यस्यासौ तथा, "होरा तु लग्ने राश्यर्द्धे, शास्त्ररेखा-प्रभेदयोः॥" [अने स का ३ श्लो ४७६] इति हैमानेकार्थ-वचनात् ॥ ४० ॥

पस्फार संसरणनीरधितीरमित्वर-
नोद्धारपुष्करसुसूरविदारजित्वरः ।
सुश्रीरकन्तुरसकौरपकौ रशान्त्यरः,
शान्तोरयोनिररतेरहतेरधूसरः ॥४१॥

व्याख्या—'असकौ सुश्री' शोभनलक्ष्मीक श्रीअरनाथजिन 'संसरणनीरधितीर' ससरण—ससार, "ससरण त्वसम्बाधचमूगतौ । संसारे" [अने स का ३ श्लो १४६३–१४६४] इति हैमानेकार्थोक्ते, ससरणमेव नीरधि. ससरणनीरधि—ससारसागर, नीरशब्दो जलवाची औणादिक, तस्य तीर—प्रान्त तट वा संसरणनीरधितीर, तत् ससरणनीरधितीर 'पस्फार' प्राप्तवान्, "स्फर स्फलत् स्फुरणे, चलने [इत्येके]" इति **धातुपारायण**वचनाद्, गत्यर्थाना प्राप्त्यर्थत्वात् परोक्षायां णवि रूपम् । किम्भूत [सुश्री] ? 'इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूरविदारजित्वर' "इण्क् गतौ" ज्ञानार्थोऽत्र, यन्तीत्येवशीला "सृजीण्नशष्ट्वरप्" [सि हे ५।२।७७] इत्यनेन ट्वरपि इत्वरा—पण्डिता ना—नरा, "नो नरे च सनाथेऽपि" [वि ए ७६] इति **विश्वशम्भूक्ते**, तेषा उद्धार—उद्धरण ससारपातादिति येपा ते नोद्धारा, इत्वराश्च ते नोद्धाराश्च इत्वरनोद्धारा, त एव पुष्कराणि—पद्मानि तेषा विकासने सुसूर इव—प्रधानभानुरिव योऽसौ इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूर, विदारे—सङ्ग्रामे "विदारो युधि" [अने स का ३ श्लो. १२०३] इति वचनप्रामाण्यात्, शत्रून् जयतीत्येवशील "सृजीण्नशष्ट्वरप्" [सि हे ५।२।७७] इति ट्वरपि विदारजित्वर., इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूरश्चासौ

विदारजित्वरश्चेति कर्मधारये इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूरविदार-जित्वरः । पुन. किम्भूत सुश्रीः ? 'अकन्तु' निष्काम, "कन्तु: कामकुसूलयो" [अने स. का २ श्लो १७५] इत्युक्ते । पुन किम्भूत. सुश्री. ? 'रपकी' "रप भाषणे" अकचि रपन्ति–भाषन्ते स्याद्वादमिति रपकास्तान् अवति–रक्षति योऽसौ तथा । पुन. किम्भूत सुश्री ? 'अशान्त्यर' न शान्ति –अशान्ति, अशान्ते न विद्यते रा –दान यस्मिन् स तथा। पुन किम्भूत सुश्री· ? 'शान्तो' शान्ताना–उपशमवता उ –पालन यस्य स तया। पुन किम्भूत सुश्री ? 'अयोनि' अकारण, कस्य ? 'अरते' असुखस्य, कस्य ? 'अहते' अहिं-सकस्य । पुन किम्भूत सुश्री ? 'अधूसर' निर्दोपत्वाद् निर्मल इत्यर्थ ॥४१॥

विजर ! विकर शुभ्रेरं नसारण्डझार-
गमिरटगरगान्धारप्रहेरस्वपोरः ।
छिदिरविधरदण्डारस्वभूरर्ज्यदीर,
प्रवरपदरविन्दो रस्वसूरथ्यधूरः ॥४२॥

व्याख्या—'हे विजर !' विगता जरा यस्मात् स विज-रस्तत्सम्बोधनं हे विजर !–हे श्रीअरनाथजिन ! 'अ' परब्रह्म 'विकर' विशेषेण कुरु, "अ मान्तो ब्रह्मसवादे, परब्रह्म-प्रवाचक ।" [वि ए १६] इत्युक्ते । कस्य ? 'शुभ्रेः' शुभ्रा निर्दोषत्वाद् धर्मोपार्जितत्वाद्वा इ–लक्ष्मीर्यस्यासौ शुभ्रे, तस्य शुभ्रे –भक्तश्रावकस्य । किम्भूतस्त्व ? 'नसा-रण्डझारगमि' सरण्डा –धूर्त्ता, "सरण्ड स्यात् कृकलासे,

भूषणान्तरधूर्तयो ।" [अने. सं का. ३ श्लो. ७८४] इत्युक्तेः, सरण्डा एव सारण्डा, स्वार्थे अण्, नेषु–नरेषु सारण्डा, नसारण्डा, तेषा झार.–हानिर्यस्माद् यस्य वा नसारण्ड-झार, "झॄश् हानौ", गमि.–आचार्य, गमिशब्द औणादिक, नसारण्डझारश्चासौ गमिश्चेति कर्मधारय । पुन किम्भू-तस्त्व ? 'अटगरगान्धारप्रहे' न टगर अटगर–अवक्र-दृष्टि, "टगरष्टङ्कणे केकराक्षके ॥" [अने स का ३ श्लो. ११५९] इति वचनप्रामाण्यात्, 'गान्धारेण' "गान्धारो राग-सिन्दूरस्वरेषु" [अने. स का ३ श्लो. ११५१] इति वचनात् प्रस्तावाद् विदुषा स्तुतिरूपेण "हिट् वर्द्धने गतौ" विचि प्रहिण्वन्ति–प्रकृष्टप्रकारेण वर्द्धन्ते गुणा यस्यासौ गान्धारप्रहे, अटगरश्चासौ गान्धारप्रहेश्चेति कर्मधारये अटगरगान्धारप्रहे । पुन किम्भूतस्त्वं ? 'अस्वपोर' नास्ति स्व–द्रव्य येषा ते अस्वा–साधवस्तेभ्य पोर–अग्रे गमन यस्य स तथा, "पुरत् अग्रगतौ" घञन्त । पुन किम्भूतस्त्व ? 'छिदिरविधरदण्डा रस्वभू' छिदिराणा–खड्गाना "छिदिरोऽग्नौ परश्वधे ॥ करवाले च" [अने स का. ३ श्लो ११५५–११५६] इत्युक्ते, "धृग् धारणे" अलन्त., वि–गतो धर–धरण यस्मात् स छिदिरविधर, दण्डाराश्च–वाहनानि "दण्डारो वाहने" [अने स. का ३ श्लो. ११३५] इति वचनप्रामाण्यात्, स्वानि च–द्रव्याणि नानाविध-त्वाद् बहुवचन दण्डारस्वानि, तेषा भू–प्रापण यस्मात् स दण्डार-स्वभू, छिदिरविधरश्चासौ दण्डारस्वभूश्च छिदिरविधरदण्डा-रस्वभू । पुन. किम्भूतस्त्व ? 'अर्ज्यदी' "दीङच् क्षये" क्वि-वन्त., दीयन्ते–कषायाः क्षयन्ति यस्मात् स दी–धर्मः, अर्ज्यः

उपार्जनार्हो दीर्यस्यासौ तथा । अकार पादपूरणार्थमव्ययम् । पुन किम्भूतस्त्व ? 'प्रवरपदरविन्द' प्रवर—प्रधानं यत् पदरविन्द—चरणकमल यस्यासौ तथा । पुन किम्भूतस्त्वं ? 'रम्वसूरथ्यघूर' "रवि व्रजे" अल्न्त, रम्वा—ज्ञान तेन सूरथा—दान्ता रम्वसूरथा, सूरथशब्द औणादिके दान्तवाची, रम्व-सूरथा विद्यन्ते यस्यासौ रम्वसूरथी, "घूरडमरी हिंस्यावली" [कवि क. श्लो] इति कविकल्पद्रुमोक्तेः अल्न्त, नास्ति घूरा—हिसा यस्यासौ अघूर, रम्वसूरथी चासौ अघूर-श्चेति कर्मधारय ॥४२॥

हृष्टैरकान्तिरमहैरजदैरपामरः,
कान्तैर! सौषि रचयैं रमथेरमुद्गरः ।
काश्मीरजार्चिरकुठेरकथेरपीवर-
न्निश्चौरकः करचनोरलघूरभङ्गुरः ॥४३॥

व्याख्या—'हेअ!' हे अर्हन्! "अ स्यादर्हति सिद्धे च" इत्युक्ते, त्व सौषि, ई (?) शब्दे । कं. ? 'रचयैं' राणा—नराणा चया—समूहा रचयास्तै रचयै—वहुभिर्मनुष्यसङ्घै । किम्भूतै रचयै ? 'हृष्टै' जातहर्षै । किम्भूतस्त्व ? 'अकान्ति' नास्ति कान्ति—*वाञ्छा भोगादौ यस्यासौ तथा। पुन किम्भूतै रचयै ? 'अमहै' रोगनाशकै । पुन. किम्भूतै रचयैं ? 'अजदै' कन्दर्पविखण्डकै, "अजश्छागे हरे विष्णौ, रघुजे वेधसि स्मरे।" [अने स का २ श्लो ८०] इति हैमानेकार्थोक्ते । पुन. किम्भूतस्त्व ? 'अपामर' पामरलोकरहित । पुन किम्भूतै

* "कान्ति. शोभाकामनयो" अने स का २ श्लो १७६

रचयै.? 'कान्तै·' वल्लभै.। पुन किम्भूतस्त्व? 'रमथे.' रमथस्य–प्रहर्षस्य ई–क्षेपो यस्मात् स तथा, "रमथ. प्रहर्ष." [सि. हे उ. सू २३२] इत्युणादिवचनात्। पुन. किम्भूतस्त्व? 'अमुद्गर' प्रहरणविशेषरहित। पुनः किम्भूतस्त्व? 'काश्मीरजार्चि.' काश्मीरजेन–घुसृणेन अर्चि–पूजा यस्यासौ तथा। पुन किम्भूतस्त्व? 'अकुठेरकथेरपीवरनिश्चौरक' कुठेर.–निस्सृतसार, न कुठेर अकुठेरः, कथेर·–कथक धर्मवक्ता इत्यर्थ., कुठेरकथेरशब्दौ औणादिकौ, पीवर–पुष्ट शरीरेणेति गम्यते, न तु कृशतनु., निर्गत चौरकं–चौरिका यस्मात् स निश्चौरक, चतुर्णां कर्मधारय, "चोरादे." [सि हे ७।१।७३] चोरादिभ्यस्तस्य भावे कर्मणि चाकञ्प्रत्यये चौरकम्। पुन किम्भूतस्त्व? 'करचनोरलधू' कस्य–सुखस्य रचना–विरचनं यस्य स करचन, उरला–उत्कटा–मदोत्कटास्तान् धुवति योऽसौ उरलधू, "धूत् कम्पे" क्विबन्त, करचनश्चासौ उरलधूश्चेति कर्मधारय.। पुनः किम्भूतस्त्व? 'अभङ्गुर' न भङ्गुरः अभङ्गुरः–न नश्वर इत्यर्थ, "भङ्गुरौ वक्रनश्वरौ" [अने सं. का ३ श्लो ११८४] इत्युक्ते ॥ ४३ ॥

बन्धूरनागरकभैरवचोरडस्फरः,
कर्जूरवाशुरविमीरखटूरकर्परः।
पिण्डारशार्वरमसूरनिकारशाक्वरः,
साधून् ररक्ष रजतीरवनोरदर्वरः ॥४४॥

व्याख्या—'अदर्वर' नास्ति दर्वर–वज्र यस्य सोऽदर्वर–श्रीअरनाथजिन 'साधून्' मुनीन् 'ररक्ष' पालयामास।

किम्भूतोऽदर्वर ? 'वन्वूरनागरकभैरवचोरडस्फर' "बन्धूरो रम्यनम्रयो ।" [अने स का ३ श्लो ११८१] इत्युक्ते बन्धूरा – नम्रा रम्या वा नागरा –लोका यस्मिन् स वन्धूरनागर, केन– दु खेन भैरवा.–घोरा कभंरवा ते च ते चोरडाश्र–तस्करा कभैरवचोरडा ,तेषा स्फर –गमन यस्मात् स कभैरवचोरडस्फर, "स्फर स्फलत् स्फुरणे, चलने इत्येके" इति धातुपारायण- वचनाद् अलन्त, वन्धूरनागरश्चासौ कभैरवचोरडस्फरश्चेति कर्मधारय । पुन किम्भूतोऽदर्वर ? 'कर्जूरवाशुरविमी' कर्जूरा –मलिना पापमलिना:, अत एव शठत्वाद् वाशुरा इव– गर्दभा इव ये ते कर्जूरवाशुरा, तेषा विशिष्टा मी –मतिर्यस्मात् स कर्जूरवाशुरविमी, कर्जूरवाशुरशब्दौ औणादिकौ, "मीकि गत्या मत्या" [कवि क श्लो] इति कविकल्पद्रुमोक्ते क्विबन्त । पुन किम्भूतोऽदर्वर ? 'अखटूरकर्पर' खटूर –मणिविशेष, "खटूरो मणिविशेष" [सि हे उ सू ४२७] इत्युणादिवृत्तौ, कर्पर –शस्त्रविशेष, खटूरश्च कर्परश्च खटूरकर्परौ, तौ न स्त यस्य स तथा, "कर्परस्तु कटाहे स्याच्छस्त्रभेदकपालयो ।" [अने स का ३ श्लो ११३०] इति वचनप्रामाण्यात् । पुन किम्भूतोऽदर्वर ? 'पिण्डारशार्वरमसूरनिकारशाकर:' पिण्डार – भिक्षुक, "पिण्डारो भिक्षुके" [अने स का ३ श्लो ११७८] इति हेमाचार्या:, शार्वरा –घातुका "शार्वर घातुके" [अने स का ३ श्लो १२०६] इत्युक्ते, मसूरा –पण्ययोषित, "मसूरो मसुरोऽपि च । मसुरा च मसूरा च, चत्वार पण्ययोषिति ।। तथा व्रीहिविशेषेऽपि" [अने स का ३ श्लो ११९०, ११९१] इत्युक्ते, शार्वराश्च मसूराश्च शार्वरमसूरास्तेषां निकार –पराभवो येषा

ते "निकारस्तु पराभवे ॥ धान्योत्क्षेपे" [अने स का ३ श्लो. ११६९, ११७०] इत्युक्ते शार्वरमसूरनिकारा., पिण्डाराश्च ते शार्वरमसूरनिकाराश्च पिण्डारशार्वरमसूरनिकारा., तेषा मध्ये शाक्कर[1]इव–वृषभ इव योऽसौ तथा । पुन. किम्भूतोऽर्दवर ? 'रजती' "रञ्जी रागे" "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे ५।३।१३८] इति तिवि, रजति –राग प्रस्तावाद् धर्मराग तस्य इ –प्रापण यस्मात् स तथा । पुन. किम्भूतोऽर्दवर ? 'अवनो' अव–निश्चितो नो –स्तुतिर्यस्मात् स तथा, "णुक् स्तुतौ" विजन्त ॥ ४४ ॥

मृदरनिकरहारी रन्ध्रहोऽरक्षदाऽरः,
शिबिरभिदिरकृद् गौरप्रजीरः पवीरः ।
बठरवमरवित्ती रम्भतीरस्मदा रः,
सदुरसिलररुक्रूरक्षपारक्कुरीरः ॥४५॥

व्याख्या—'मृदरनिकरहारी' मृदराणा–व्याधीना निकर –समूह. मृदरनिकर, तद् हरतीत्येवशीलो मृदरनिकरहारी 'अर.' अरनाथजिन 'अरक्षत्' अपालयत् सेव[का]निति शेष. । किम्भूतोऽर ? 'रन्ध्रह.', रन्ध्राणि प्रस्तावात् पापच्छिद्राणि तानि हन्ति योऽसौ रन्ध्रह –पापच्छिद्रभञ्जक इत्यर्थ. । आकार सम्बोधनार्थमव्ययम् । पुन किम्भूतोऽर ? 'शिबिरभिदिरकृत्' शिबिरस्य–सैन्यस्य भिदिर–भेद· तत् करोतीति य स तथा, "भिदिर [2]वज्र भेदश्च" [सि हे उ सू ४१६] इत्युणादौ ।

---

१. "शाक्करस्तूक्षा" इति अने स का ३ श्लो १२१० ।
२. "भिदिर अशनि. भेदश्च" इति मुद्रिताया हैमोणादिवृत्तौ ४१६ ।

पुन. किम्भूतोऽर ? 'गौ' "गुङ् शब्दे" विचि गुवति-धर्म शब्दयति योऽसौ तथा। पुन किम्भूतोऽर ?'अप्रजीर' प्रकृष्टा जीरा प्रजीराः-प्रधानाश्वा, यदुक्तमुणादिवृत्तौ—" जीर अजाजी अग्नि [1]स्नायु अश्वश्च" [सि हे उ सू ३९२] इति, न सन्ति प्रजीरा यस्यासौ तथा, त्यक्तगृहस्थावासत्वात्। पुन किम्भूतोऽर ? 'पवीर' धर्मेण निर्मल, यदुक्तमुणादिवृत्तौ— "पवीर रङ्गस्थान फल पवित्र च" [सि. हे उ सू ४१८] इति। पुन किम्भूतोऽर ? 'बठरवमरवित्ति' [2]बठरा –बृहद्देहा ये वमरा –मूर्खा· दुर्मेधस, यदुक्तमुणादौ–"वमरा. दुर्मेधस" [सि. हे उ सू ३९७] बठरवमरास्तेषा वित्ति –ज्ञान यस्मात् स तथा, बृहद्देहशठाना ज्ञानप्रद इत्यर्थ । पुन किम्भूतोऽर ? 'रम्भती-रम्मदा' "रभिङ् शब्दे" "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि हे ५।३।१३८] इति तिवि, रम्भति – शब्दनम्, त एति–व्याख्यानक्षणे प्राप्नोति योऽसौ। रम्भती, इरा–सुरा तया माद्यन्ति–हृष्यन्ति ये ते इरम्मदा –मद्यपानकरा, तेभ्योऽस् गमन-व्रजन यस्य स इरम्मदा, "असञ् अन्नार्थे" "अन्नार्थे दीप्तिग्रहणगतिषु" इति कविकल्पद्रुमधातुपाठोक्ते, रम्भतीश्चासौ इरम्मदाश्चेति कर्मधारय । पुन किम्भूतोऽर ? 'र' रवति शुभ योऽसौ [3]डेर·, शुभरवक इत्यर्थ.। पुन किम्भूतोऽर ? 'सदुरसिल्' सन्त प्रशस्ता ये उरसिला सदुरसिला –प्रशस्तोरस्वन्तस्तान् आचष्टे

---

१ "वायु" इति मुद्रितोणादिवृत्तौ।

२ "वठर–मूर्ख वृहद्देहश्च" इति हैमोणादिवृत्तौ सू ३९७। अनेकार्थे तु "बठरो मूर्खशठयो" १८१॥ इति ३।१।

३ 'डे' ऽप्रत्यये कृते इत्यर्थ.।

इति सदुरसिलयति, सदुरमिलयतीति णिजि तल्लुकि क्विपि तल्लुकि च सदुरसिल् । पुन. किम्भूतोऽर: ? 'अररुक्रूरक्ष-पारक्कुरीर.' अरव:–असुरा, यदुक्तमुणादिवृत्त्याम्–– "अररु असुर आयुधं मण्डलं च" [सि. हे उ सू. ८१२] तद्वन् क्रूरा ये ते अररुक्रूरा –दुर्जना गत्रवस्तान् क्षयति योऽसौ अररुक्रूरक्ष, "क्षि क्षयैश्वर्ययो." इत्युक्ते, पारज.–रत्नानि, प्रस्तावाद् गुणरत्नानि, यदुक्तमुणादिवृत्तौ— "पारण् कर्मसमाप्तौ" "पारेरज्" [सि हे उ. सू ८७३] इति सूत्रेणाज्प्रत्यये "पारक् शाकविशेष प्राकार. सुवर्णं गुणरत्न च", इति, पारजा–गुणरत्नाना कुरीर–आलयो योऽसौ पारक्कुरीर., अररुक्रूरक्षश्चासौ पारक्कुरीरश्चेति कर्मधारय ॥४५॥

शर्मारर नुररणेरमतेरभर्भर !,
खेतेरमर्मरनुतेरगतेरपत्सर !।
धीस्थूरकर्बरभजेरजजेरनातुर !,
न्यक्कारहानिररपूरप्रतारणाघर ! ॥४६॥

व्याख्या––हे 'अभर्भर !' न भर्भरोऽभर्भरस्तत्सम्बोधनं हे अभर्भर !–हे अच्छद्मवन् !, "भर्भर छद्मवान्" [सि हे उ. सू. ६] इत्युणादिवचनप्रमाणात्, अह 'शर्म' भद्रं 'आरर' अत्यर्थं अप्रापम् । कस्मात् ? 'नु:' मनुष्यात् श्रीअरनाथ-लक्षणात् । किम्भूतान्नु ? 'अमते' कालस्य 'अरणे.' "रण गतौ" गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वाद्, न विद्यते रणि.–प्रापणं यस्मात् स अरणिस्तस्मात् अरणे । पुन: किम्भूतान्नु: ? 'खेते' खस्य–सुखस्य इनि –प्रापणं यस्मात् स खेतिस्तस्मात्, "खमिन्द्रिय

स्वर्ग शून्य, भूपाऽऽकाशसुखेषु च ।" [सु,ए ११] इति सुधाकलश-वचनप्रामाण्यात् । पुन किम्भूतान्नु ? 'अमर्मरनुते ' न विद्यन्ते मर्मरा –दानवा· शत्रुत्वेन येषा ते अमर्मरा , यदुक्तमुणादिवृत्तौ– "मर्मर· शुष्कपत्रप्रकर तद्धर्माऽन्योऽपि क्षोदासहिष्णुर्दानवश्च" [सि· हे उ सू ६] इति, अमर्मरा –चतु षष्ठिरिन्द्रास्तेभ्यो नुति –स्तुतिर्यस्य स तथा तस्मात् । पुन किम्भूतान्नु: ? 'अगते ' नास्ति गति. प्रस्तावान्नरकगतिर्यस्मात् स तथा तस्मात् । किम्भूत हे अभर्भर ! ? 'अपत्सर !' "त्सर छद्मगतौ" अलन्त , अपगत त्सर –छद्मगतिर्यस्य स तथा तत्सम्बोधनम् । पुन किम्भूतान्नु ? 'धीस्थूरकर्वरभजे ' धिया–बुद्धया स्थूरा –उच्चा ये ते धीस्थूरा –विद्वास , "स्थूर [1]बधिर उच्चश्च" [सि हे उ सू ४२६] इति उणादिवचनात्, धीस्थूरेषु कर्वरा इव–व्याघ्रा इव ये ते धीस्थूरकर्बरास्तेषु भजि –सेवा यस्य स तथा तस्मात्, "भजर्ञी भागसेवयो " इत्युक्ते , "इकि-श्तिव् स्वरूपार्थे" [सि हे ५।३।१३८] इति इ प्रत्यय । पुन किम्भूतान्नु ? 'अजजे ' निर्युद्धात्, "जज जजि युद्धे" इ-प्रत्ययान्त ।पुन किम्भूत हे अभर्भर ! ? 'अनातुर !' न आतुर अनातुरस्तत्सम्बोधनम् । पुन किम्भूतोऽहृ ? 'न्यक्कारहानि ' न्यक्कारस्य–न्यक्करणस्य [हानि –क्षति यस्य] स तथा । पुन किम्भूतोऽहृ ? 'अरपू ' "ऋक् गतौ" ये ते सुखमपि य प्राप्नुवन्ति, अविअरेमितष्णव (?)! पुन· किम्भूत हे अभर्भर ! ? 'अप्रता-रणाघर !' "वञ्चन तु प्रतारण" [अभि चि ३।४३] इत्यभिधान-कोपवचनाद्, नास्ति प्रतारण–वञ्चन यस्मिन् स अप्रतारण ,

१ 'बठर' इति मुद्रितोणादिवृत्तौ ।

"घृ भासि" अचि, अया—लक्ष्म्या जिघर्त्ति—भासते योऽसौ आघर, अप्रतारणश्चासौ आघरश्चेति कर्मधारये अप्रतारणाघरस्तत्सम्बोधनम्।।४६।।

लक्ष्मीरबीभरदभीरतवेरटेतरः,
साधूरकर्तृरगुरोरहरेरदुष्करः।
सह्योरसूकरमनोरथपारभुर्भुरः,
सह्नीरऽझर्झरसबीरतरेरगह्वरः ।।४७।।

व्याख्या—'अभी' न विद्यते भी—भय यस्मात् सोऽभी—श्रीअरनाथजिन 'लक्ष्मीः' श्रिय 'अबीभरत्' अत्यर्थं अपोषयत्। कथ ?'अकर्तृ' "अत सातत्यगमने" अत्यन्ते—ज्ञायन्ते धर्माधर्मफलानि एभ्य इति "क्विड्" [सि. हे. ५।१।१७१] इति डे, आ—सिद्धान्तानि तेषां कर्तृ अकर्तृ एव यथा स्यात्तथा। कस्य लक्ष्मी अबीभरत् ?'अगुरो' "अज क्षेपे गतौ" क्विनन्त, अक्—ज्ञानं तेन उरु—गरिष्ठो योऽसौ अगुरुस्तस्य अगुरो—श्रावकस्य। अकर्तृ अग्रे अगुरोरित्यत्र "इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरल" [सि हे १।२।२१] इति सूत्रस्य पञ्चमीव्याख्यानत ऋकारात्परस्याकारस्य रकारादेशे जाते अकर्तृरगुरोरिति निष्पत्तिः। किम्भूतोऽभी ? 'अतवेरटेतर' अतन्ति—जिनोक्तधर्मादिपर धर्म सातत्येन प्राप्नुवन्ति येभ्यो ये ते अता—हरहरिब्रह्माद्यो देवा', ते च ते वेरटाश्च—नीचा अतवेरटा, "अथ वेरट ।। मिश्रीकृते च नीचे च" [अने स का. ३ श्लो. ७६७, ६८] इति हैमानेकार्थवचनात्, अतवेरटेभ्य इतर—अन्यो य. स तथा। पुन. किम्भूतोऽभी ?'साधू' साया—लक्ष्म्याः धू—धुराभारो यस्यासौ तथा।

किम्भूतस्य अगुरो ? 'अहरे ' हरति परद्रव्याणि य स हरि, न हरि· अहरिस्तस्य तथा, साधोरित्यर्थ । पुन किम्भूतोऽभी ? 'अदुष्कर ' न विद्यते दुष्कर किमपि यस्यासौ तथा । पुन· किम्भूतोऽभी ? 'सह्यो ' "सह्यो नीरुजि" इत्युक्ते सह्या–नीरुजस्तेपा ऊ–पालन यस्मिन् स तथा । पुन किम्भूतोऽभी ? 'असूकरमनोरथपारभुर्भुर ' सूकरप्रायत्वात् सूकरा –शठा, न सूकरा असूकरा –चतुरास्तेपा मनोरथपारा.–कामितपूरका "कर्मणोऽण्" [सि हे ५।१।७२] इत्यण्, असूकरमनोरथपारा – देवास्तेषा भुर्भुर –निचयो भत्तत्यर्थ यस्य स तथा, भुर्भुरशब्द औणादिक । पुन किम्भूतोऽभी. ? 'सह्री ' सलज्ज । पुनः किम्भूतोऽभी ? 'अझर्झरसवीरतरे ' न सन्ति झर्झरा –वाद्यविशेषा आत्मनो वादनार्थ येपा ते अझर्झरा, सह वीरतरै – वीरश्रेष्ठै वर्तन्ते ये ते सवीरतरा, "वीरतरो वीरश्रेष्ठे" [अने. स का ४ श्लो १६५३] इत्युक्ते, अझर्झराश्च सवीरतराश्च अझर्झरसवीरतरा –राजानस्तेपा ई –लक्ष्मीर्यस्मात् स तथा । पुन किम्भूतोऽभी ? 'अगह्वर ' नास्ति गह्वर –दम्भो यस्मिन् स तथा, "गह्वरो विलदम्भयो " [अने स का ३, श्लो ११५०] इत्युक्ते ॥४७॥

वन्दारवो ! निरयदारव ! आं रराम रः,
कञ्चारवो ! धरणधारण एरपञ्जरः ।
श्रीसारसासरणिपूरणसारणासिर-
विस्तारकोऽगिरणचूरणजारतत्परः ॥४८॥

व्याख्या —— भो 'वन्दारव!' वन्दनशीला ये ते वन्दारवस्त-त्सम्बोधने हे वन्दारव !—भो सुहृद ! 'र.' रम्भयति लोकान् योऽसौ र.— श्रीअरनाथजिन: 'आ' श्रिय—धर्मलक्ष्मी 'रगाम' अब्रवीत्, व्याख्यानक्षणे इत्यध्याहार्यम् । किम्भूता हे वन्दारव ? 'निरयदारव !' निरयस्य—नरकस्य दारव —दारका ये ते निरय-दारवस्तत्सम्बोधनम् । पुन किम्भूता हे वन्दारव ? 'कच्चारव.' सुखप्रधानास्तत्सम्बोधनम् । किम्भूतोऽरः ? 'धरणधारण' धरणान्—लोकान् समारसागरपतनाद् धारयति योऽसौ तथा, "धरणोऽहिपतौ लोके" [अने. स. का ३ श्लो. ८०५] इति हैमानेकार्थात् । पुन किम्भूतोऽर ? 'ए' कृतार्थ, "ए कुमारो-ऽसुरोऽरातिर्ज्ञातीयोऽहित उद्धत । आत्मा शेपो विवस्वाश्च कृतार्थो मध्वरि गर ।।" [सौ. ए १२] इति सौभरिवचनात् । पुन॰ किम्भूतोऽर. ? 'अपञ्जर' नास्ति पञ्जर —जीववन्धन-स्थान यस्मिन् स तथा । पुन किम्भूतोऽर ? 'श्रीसारसास-रणिपूरणसारणासि.' श्री —शोभा लक्ष्मीर्वा सा एव सारस—पद्म तद्विकाशनार्थ आ—समन्तात् सरणिरिव—भानुरिव ये ते श्रीसारसासरणय , तेषा पूरण—प्रकरणात् सुखस्य पूरण यस्मात्स श्रीसारसासरणिपूरण , सारण —अतीसाररतस्य असि —क्षेपो यस्मात् म सारणासि , "सारण स्यादतीसारे" [अने. स. का. ३ श्लो ८२७] इति वचनप्रामाण्यात्, श्रीसारसासरणिपूरण-श्चासौ सारणासिश्चेति कर्मधारय । पुन किम्भूतोऽरः ? 'अविस्तारक' आ —सुखिनस्तेपा विस्तार एव विस्तारको यस्मिन् स तथा, "अ कृष्ण शङ्करो ब्रह्मा शक्र सोमोऽ-

ऽनल. । सूर्य प्राणो जनः कालो वसन्त प्राणत सुखी ।।"

[सौ ए २] इति वचनप्रामाण्यात् । पुन किम्भूतोऽर ? अगिरणचूरणजारतत्पर ' गिरणाः—आचार्या·, यदुक्तमुणादिवृत्तौ— "गिरण मेघ. आचार्यो ग्रामश्च" [सि. हे उ सू १८८] इति, न गिरणा अगिरणा, नञ्शब्दस्य कुत्सार्थत्वाद् अगिरणा — कुत्सिताचार्यास्तेषा चूरण—नाशो येभ्यस्ते अगिरणचूरणा — बौद्धास्तेषां जार.—न्यक्कारस्तत्करणे तत्पर —सावधानो योऽसौ अगिरणचूरणजारतत्पर ॥४८॥

पुस्फोर कीर्त्तिरदनारतमेरमन्दिर-
रन्तेरतूबरचकोरनिशारमण्यर ! ।
रैहारयो हरय औरसवारकातर-
कंसेरवो मरकशूरणनीरवित्युर ! ॥४९॥

व्याख्या—हे 'अत् !' "अत सातत्यगमने" क्विवन्त, अतति-सातत्येन जिनप्रणीत धर्म प्राप्नोति योऽसौ अत्, तत्सम्बोधन हे अत् !—हे श्रावक ! 'हरय ' इन्द्राश्चतु पष्ठिसङ्ख्याका रवन्ति इति शेष । तत् किं ? 'पुस्फोर' चचाल, का ? 'कीर्त्ति ' यश , कथ ? 'अनारत' निरन्तर कस्य ' 'ए ' "इ गतौ" विचिम्, अयति—वेत्ति शुभाशुभमिति ए तस्य ए । 'अमन्दिररन्ते ' न सन्ति मन्दिराणि—गृहाणि येपा ते अमन्दिराः— यतिनस्ते सह रन्ति —क्रीडा यस्यासौ अमन्दिररन्तिस्तस्य । किम्भूत हे अत् ? 'अतूबरचकोरनिशारमण्यरः !'तूबरा —अजननीका कुमातृकत्वेन, यदुक्तमुणादौ—"[१]तूबर· मन्दश्मश्रू अजननीकश्च" [सि हे उ

---

१ "तूवर" इति मुद्रिते

सू ८४३] इति, न तूवरा अतूवरा–उभयपक्षशुद्धा' पुमांसस्त एव चकोरास्तेषां आह्लादकरणाय निशाया रमणो निशार-मणः– चन्द्र स इव ये ते अतूवरचकोरनिशारमणा., ते विद्यन्ते येषां ते अतूवरचकोरनिशारमणिन:, तैः रलयोरैक्याद्, अलति–शोभते योऽसौ अतूवरचकोरनिशारमण्यरस्तत्सम्बोधनम् । किम्भूता हरय ? 'रैहारय.' राया–द्रव्येण हारयश्चारवो ये ते तथा, "चारु हारि" [६ । ८०] इति अभिधानकोषवचनात् । पुन किम्भूता हरय ? 'औरसवारकातरकसेरव' उरसा–हृदा मनसा कृतानि सेवकजनाना वाञ्छितानि यैस्ते औरसा – सामान्यदेवा., "उरसो याणौ" [सि हे ६।३।१६६] इति सूत्रेण उरस्शब्दात् तेन कृते अण्प्रत्यये औरस इति निष्पत्ति., वार एव वारक, समूह एवेत्यर्थ, औरसानां वारको येषु ते औरसवारका., "तॄ तारे ऽभिभवे प्लुत्या" इत्युक्ते. अलन्त, आ–सामस्त्येन तर.–अभिभवो येषु ते आतरा.–दानवास्तेषा क–सुख [त]स्य सेरव –वन्धका ये ते आतरकसेरव, औरस-वारकाश्च ते आतरकसेरवश्चेति कर्मधारय । पुन. किम्भूत हे अत् ? 'मरकशूरणनीरवित्युर!' "मरको मारि" [२।२३६] इत्यभिधानकोषोक्त. मरकस्य–मारे शूरण–नाशो यस्मात्स मरकशूरण, "शूर् षूर्य डी स्तम्भे हिंसे" इति कविकल्पद्रुमधातु-पाठोक्ते, "रु वधे गत्या" क्तेप्रत्यये रवित, निर्गत रवित वधो येभ्यस्ते नीरविता., मरकशूरणाश्च ते नीरविताश्च मरकशूरणनीरवितास्ते सन्ति येषा ते मरकशूरणनीरवितिनः– आचार्या, तान् उरति–प्राप्नोति गुरुत्वे योऽसौ तथा, तदा-मन्त्रणम् "उर् गतौ" सौत्रो धातुः अजन्त ॥४६॥

किर्मीरचङ्कुरनुगौरवकेरडस्परः,

काण्डीरयोद्धृरवतार ! ततार भास्करः।

कल्हारदृष्टिरलवीरनुदारथित्वरः,

कासारसच्छरगतीरजनीरसन्दरः ॥५०॥

व्याख्या — हे 'अवतार'! 'अवतार — अवतरणं संसारस्य यन्त्र न अवतारः,तत्सम्बोधनं हे अवतार! — हे गुरो!, "अवतारस्तु नद्यादितीर्थेऽवतरणेऽपि च।" [अने. सं. का. ४ श्लो. १६१०]इत्युक्तेः। 'भास्करः' सूर्यः,ज्ञानालोकप्रकाशकारकत्वात्, भास्कर इव भास्करः — श्रीअरनाथजिनः 'ततार' जितवान्। किं तत्? 'काण्डीरयोद्धृ,' काण्डा — बाणा विद्यन्ते येषां ते काण्डीराः, "काण्डाण्डभाण्डादीरः" [सि. हे. ७।२।३८] इति सूत्रेणेरप्रत्यये काण्डीरः, काण्डीरा योद्धारो विद्यन्ते यस्मिस्तत् काण्डीरयोद्धृ तत् काण्डीरयोद्धृ-प्रस्तावाद् वादयुद्धम्। काण्डीरयोद्धृ अग्रे अवतार इत्यत्र "इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्" [सि. हे. १।२।२१] इत्यस्य सूत्रस्य पञ्चमीव्याख्यानाद् ऋकारात्परस्याकारस्य रकारादेशे काण्डीरयोद्धृरवतारेति सिद्धिः। किम्भूतो भास्करः? 'किर्मीरचङ्कुरनुगौरवकेरडस्परः' किर्मीरा इव — दैत्या इव ये ते किर्मीराः, प्रस्तावात् शत्रवः, "किर्मीरः शबले दैत्ये" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११३८] इति वचनात् किर्मीरा — कषायचतुष्कलक्षणाः शत्रवस्ते चङ्कुरा — अनवस्थिता यस्मात् स किर्मीरचङ्कुरः, चङ्कुरशब्दः औणादिकोऽनवस्थितवाची, नो — स्तुतं गौरवं — गुरुत्वं येषां ते नुगौरवाः, केरडाः — त्रैराज्ये राजानः "केरडः त्रैराज्ये राजा" [सि. हे. उ. सू. १७२] इत्यु-

णादिवचनात्, नुगौरवाश्च ते केरडाश्च नुगौरवकेरडा, तान् स्पृणोति–प्राणयति योऽसौ नुगौरवकेरडस्पर, "स्मृ स्पृ प्रीतिरक्षाप्राणने" इति वचनात्, क्र्मीरचङ्कुरश्चासौ नुगौरवकेरडस्परश्चेति कर्मधारय । पुन किम्भूतो भास्कर ? 'कल्हारदृष्टि' कमललोचन, कल्हारशब्द औणादिक उत्पलविशेषवाची । पुन किम्भूतो भास्कर ? 'अनवी' न विद्यन्ते अव्य – स्त्रियो यस्यासौ तथा, यदुक्तमुणादौ—"अवी प्रकाश आदित्य-भूमि पशु राजा स्त्री च" [सि हे उ सू ७११] इति । पुन किम्भूतो भास्कर ? 'अनुदारथित्वरः' न विद्यते उदारथि – विष्णु देवत्वेन येषा ते अनुदारथय –जैनास्तेषु त्वरा यस्यासौ तथा, यदुक्तमुणादौ –– "उदारथि विष्णु" [सि हे उ सू ६७२]। पुन किम्भूतो भास्कर ? 'कासारसर्च्छरगतीरजनी' कसारा –हिस्रा, "कसार· हिस्र" [सि हे उ सू ४०५] इति उणादिवृत्ते, कसारा एव कासारा·, ऋच्छरा.–वेश्या कुलटा वा, यदुक्तमुणादौ–"ऋच्छरा वेश्या कुलटा त्वरा [अङ्गुलिः] च" [सि हे उ. सू ३९७] इति, सह ऋच्छराभिर्वर्तन्ते ये ते सर्च्छराः, कासाराश्च ते सर्च्छराश्च कासारसर्च्छरा –हिसकलम्पटा., तेभ्यो गति.–गमन येषां ते कासारसर्च्छरगतय – श्रावका·, तेषा ई –लक्ष्मीस्तस्या ह्लादकारित्वाद् रजनि– यामिनी अयति–प्राप्नोति योऽसौ रजनी.–चन्द्र, रजनीरिव– चन्द्रमा इव योऽसौ तथा । रजनिशब्दस्य उणादिवृत्तौ इकारान्तत्वान्नात्र पौनरुक्त्यम् । पुन किम्भूनो भास्कर ? 'अमन्दर' अमन्द, "मन्दरो मन्थपर्वते । स्वर्गमन्दारयोर्मन्दे" [अने स का ३ श्लो ११८७] इति हैमानेकार्थोक्ते ॥५०॥

सनिरपुनरगर्हो रम्फसूरं ननार,
जयिरकररलोकैरर्कितोऽरत्निधीरः ।
पदिरविदिरतप्रारम्भदौरम्भ्यगीर,
विहरणिमरणीभीरर्कसूरः प्रटारः ॥५१॥

व्याख्या—'अ' अर्हन् श्रीअरनाथजिन 'ननार' प्राप्तवान्, "नॄ नीतौ"। किं तत् ? 'रम्फसूर' "रफि गतौ" गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् अलन्त, रम्फ–ज्ञान केवलज्ञान तेन "शूर्-पूर्यर्डा स्तम्भे हिंसे" इत्युक्ते अलन्त, सूरो–हिंसन चतुर्णा कषायाणा यस्मात् स रम्फसूर –यतिधर्मस्त रम्फसूर। किम्भूत अ ? 'सनि' सम्भक्ता, "[1]सनि सम्भक्ता" [सि हे उ. सू ६०७] इत्युणादि, तपसा मिति, तप कर्त्तेत्यर्थ । पुन किम्भूत अ ? 'अपुनरगर्ह' पुन अगन्ति–पुन मुक्तिमार्गात् कुटिल यान्ति ये ते पुनरग–मिथ्यादृष्टिन, "अक [अग] कुटिलाया गतौ" क्विबन्त, न पुनरगोऽपुनरग, तेषा अर्हः–योग्यो य स तथा। पुन किम्भूत अ ? 'जयिः' राजा, साधूना इत्यवगन्तव्यम् । पुन किम्भूत अ ? 'अर्कित' स्तुत, "अर्कण् स्तुतौ" अलन्त, कै ? 'अकररलोकै' न करराः अकरराः –अदीना, "करर खगे, करीरे क्रकचे दीने" [अने. स का ३ श्लो ११२७, ११२८] इति हैमानेकार्थात्, अकरराश्च ते लोकाश्च अकररलोकास्तै अकररलोकै –अदीनजनै । पुन किम्भूत अ ? 'अरत्निधी' अरत्नि –शमस्तं

---

[1] "सनि सम्भक्ता पन्था दान स्लेच्छ नदीतट च" इत्युणादिवृत्तौ ॥

ध्यायतीति योऽसौ तथा, यदुक्तमुणादौ–"[१]अरत्नि वाहुमध्यं गम. उत्कनिष्ठश्च हस्त ।" [सि. हे उ. सू. ६८२] पुन. किम्भूत. अ. ? 'पदिरविदि' "पदिर मार्गः" [सि हे. उ. सू ४१२] इत्युणादिवृत्तेः पदिर –मार्ग प्रस्तावान्मुक्तिमार्गस्तस्य विदि.– ज्ञानं यस्य स तथा, 'विद ज्ञाने" "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि हे ५।३।१३८] इति इप्रत्यये सिद्धि । पुन किम्भूतः अ ? 'अतप्रारम्भदौ.' अत्यते–सातत्येन ज्ञायते धर्मो येभ्यस्ते अता – एकादशाङ्गानि, तेषां प्रारम्भ.–प्रारम्भण तेन द्यति–दु ख द्यति योऽसौ विचि अतप्रारम्भदौ । पुन किम्भूत. अ ? 'अम्व्यगी' "अम्व च गतौ" गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वाद्, यपि अम्व्या–प्रापणार्हा गी –वाणीर्यस्यासौ तथा । अकार पाद- पूरणार्थ. । पुन किम्भूत. अ. ? 'विहरणिमरणिमी·' हरणि – मृत्यु, यदुक्तमुणादौ—"हरणि कुल्या मृत्युश्च" [सि. हे उ सू ६३८] इति, मरणी–रात्रि, औणादिक, हरणिरेव मरणी हरणिमरणी, विगता हरणिमरणी यस्या सा विहरणिमरणी– सिद्धि, ता मयति–प्राप्नोति योऽसौ तथा, "मीकि गत्यां" क्विबन्त । पुन किम्भूत अ ? 'अर्कसू' स्तुतिजनक । पुन किम्भूत· अ ? 'अस्' दीप्त इत्यर्थ, "अस दीप्तौ" क्विबन्त । पुन किम्भूत· अ. ? 'प्रटार·' "टारो लिङ्गतुरङ्गयो" [अने स का. २ श्लो ४२६] इत्युक्ते· प्रगताः टारा.–तुरङ्गा यस्मात् स तथा ॥५१॥

---

[१] "अर्त्तेरत्नि ॥६८२॥ ऋक् गतावित्यस्मादत्नि प्रत्ययो भवति ।" इत्युणादिवृत्तौ ।

स्थविरमुनिरधीवा रण्टगत् रंहखोरः,
सरिरजकरदीप्रो रङ्कुचोरप्रघोरः ।
चमरजितिरखर्जूरः सुसौरभ्यकारः,
सुपरमपरमेष्ठी रम्बतीरः पपार ॥५२॥

व्याख्या—'सुपरमपरमेष्ठी' सु–अतिशयेन परम.–प्रकृष्ट सुपरंम , स चासौ परमेष्ठी च सुपरमपरमेष्ठी–श्रीअरनाथजिन 'पपार' प्रीति अजनयत्, जनानामिति गम्यते। किम्भूत सुपरम-परमेष्ठी ? 'स्थविरमुनि ' स्थविरा –वृद्धा मुनयो यस्यासौ तथा। पुन. किम्भूत सुपरमपरमेष्ठी ?'अधीवा' निर्व्याधि , यदुक्तमुणादौ—"धीवा मनीपी निपाद व्याधि मत्स्यश्च" [सि हे उ ९०८] इति। पुन किम्भूत. सुपरमपरमेष्ठी ? 'रण्टगत्' "रटि स्तेये" सौत्रो धातु –अलन्त , रण्टात्–चौरिकाया गच्छति–दूर याति योऽसौ तथा। पुन किम्भूत सुपरम-परमेष्ठी ?'रहखोर ' "रहि गत्या" ज्ञानार्थ अलन्त, रह – ज्ञान प्रस्तावाद् मिथ्याज्ञान तस्य खोर –खोटन यस्मात्स तथा, "खोर्ऋ खोटने" अलन्त । पुन किम्भूत सुपरमपरमेष्ठी ? 'सरिरजकरदीप्र ' [१]मरिरे–पानीये जायते सरिरज–पद्म, तद्वत् करौ–पाणी ताभ्या दीप्रो य स तथा। पुन किम्भूत सुपरम-परमेष्ठी ?'रङ्कुचोरप्रघोर.' रङ्कव –मृगास्ते इव रङ्कवस्ते च ते चोराश्च रङ्कुचोरास्तेषु प्रघोर –भयङ्करशब्दो यस्य स तथा, "घुरस् ध्वनौ भीमार्थे" घञन्त । पुन. किम्भूत

१ "जल जड च सलिर, सरिल मलिल र(?) तथा ॥९३॥ सरिर" इति शब्दरत्नाकर, का० ४।

सुपरमपरमेष्ठी ? 'चमरजिति.' चमर –दैत्य , "चमरश्चामरे दैत्ये" [अने स का. ३ श्लो ११५४] इत्युक्ते, चमर इव चमर –कषायादिचतुष्कलक्षण शत्रुस्तस्य जिति –जयो यस्मात् स तथा । पुन किम्भूत सुपरमपरमेष्ठी ? 'अखर्जूर' नास्ति खर्जूर –रूप्य यस्यासौ तथा। पुनः किम्भूत. सुपरमपरमेष्ठी ? 'सुसौरभ्यकार' "सौरभ्यं गुणगौरवे" [अने० स० का ३.श्लो १११] इत्युक्तेः सुष्ठु "सौरभ्य–गुणगौरव तस्य कार –यत्नो यस्य स तथा, "कारो बले वधे यत्ने" [अने सं का २ श्लो ४०६] इत्युक्ते । पुन. किम्भूत सुपरमपरमेष्ठी ? 'रम्वती' "रम्व गतौ" तिव्प्रत्ययान्त , रम्बति –गति प्रस्तावात् स्वर्गापवर्गगतिस्तस्य इ –प्रापण यस्मात् स तथा । पुन किम्भूत सुपरमपरमेष्ठी ? 'अस्' अस्यति–क्षिपति कर्माणि योऽसौ क्विपि अस् ॥५२॥

सत्पूरशर्करविभूरकडार ! वासरं,
भण्डीरकिङ्करकटीरगभीरकः किर ।
वापीरचारुरणतीरपटीरसुन्दर-
कोटीरपुण्यरथहेरसहोरकुञ्जरः ॥५३॥

व्याख्या––हे 'अकडार !' न कडार –न विषमदन्तो य सोऽकडार, "कडार पिङ्गल विषमदशनश्च" [सि हे. उ सू ४०५] इति उणादिवचनात्, तत्सम्बोधन हे अकडार !–हे मुदन् ! हे श्रीअरनाथजिन ! त्व 'किर' क्षिप । किं तत् ? 'वासर' कन्दर्पम्, यदुक्तमुणादौ––"वासर. दिवस· काम अग्निः प्रावृट् च" [सि हे उ सू ३९७] । किम्भूतस्त्व ? 'सत्पू'

प्रधानकाय । पुन किम्भूतस्त्व ? 'अशर्करविभूः' न शर्करा — कर्कशा प्रस्तावात् साधवो यस्य स अशर्कर, यदुक्तमुणादौ— "शर्करा मत्स्यपिण्डकादि कर्कश क्षुद्रपाषाणावयवश्च" [सि हे उ सू ४३५] इति, विशिष्टा भू —उत्पत्तिर्यस्य स विभू, अशर्करश्चासौ विभूश्चेति कर्मधारय । पुन किम्भूतस्त्व ? 'भण्डीरकिङ्करकटीरगभीरक' [1] "भडीर-भण्डीरौ योद्धृविशेष-वाचकौ औणादिकौ, भण्डीरा —योद्धृविशेषा किङ्करा —दासा यस्यासौ भण्डीरकिङ्कर, कटीर—जल तद्धेतुत्वात् कटीर समुद्रस्तद्वद् गभीरो य स कटीरगभीर. कटीरगभीर इव कटीरगभीरक, स्वार्थे क, भण्डीरकिङ्करश्चासौ कटीरगभीरकश्चेति कर्मधारय । पुन किम्भूतस्त्व ? 'वापीर-चारुरणती' वापीर —मेघस्तद्वत् चारु —प्रधानो यो रणति — शब्दस्तेन इ —शोभा यस्यासौ तथा । वापीरशब्द औणादिको मेघवाची । पुन किम्भूतस्त्व ? 'अपटीरसुन्दरकोटीरपुण्यरथहे.' नास्ति पटीर —कामो येषा ते अपटीरा, यदुक्तमुणादौ—"पटीर कन्दर्प" [सि हे उ सू ४१८] अपटीराणा सुन्दरकोटीर इव— प्रधानमुकुट इव योऽसौ अपटीरसुन्दरकोटीर, पुण्यरथ —क्रीडा-रथ प्रस्तावाद् धर्मपुण्यरथ ,तेन हिनोति—याति योऽसौ विचि पुण्यरथहे, "हि वर्द्धने गतौ" अपटीरसुन्दरकोटीरश्चासौ पुण्य-रथहेश्चेति कर्मधारय । पुन. किम्भूतस्त्व ? 'असहोरकुञ्जर.' सहोर —विष्णु, नास्ति सहोरो देवत्वेन येषा ते असहोरास्तेषु

---

१. "भडीर भण्डीरश्च योद्धृवचने" इति हैमोणादिसूत्र ४२२ वृत्तौ।

कुञ्जर इव योऽसौ तथा, "सहोरः विष्णु. पर्वतश्च" [सि हे उ. सू. ४३३] इति उणादिवचनात् ॥५३॥

प्रसरसुपरवाणेरं ददार प्रखौरः
सुगिरयऋरभर्त्तारः परीरः स्वनेरः ।
कनिरसनरवृद्धेरर्ज्यधीरंभ्यगोरः,[1]
पतिरचिकुरसाधोरर्बसंरग्यलीरः ॥५४॥

व्याख्या—सुष्ठु गिरयः—पूज्या ये ते सुगिरयः—विद्वांस , वदन्तीत्यध्याहार्यम्, "गिरि. पूज्ये" [अने. सं. का २ श्लो ४१६] इत्युक्ते । चतुर्थपादान्ते 'अः' सिद्धः—श्रीअरनाथजिनः 'ददार' अदारयत् । किं तत् ? 'अं' व्याधिं "अं मान्तो ब्रह्मसवादे परब्रह्मप्रवाचकः ॥ व्यसने व्याधिते व्याधौ" [वि ए १९-२०] इति वचनप्रामाण्यात् । कस्य? 'प्रसरसुपरवाणे.' प्रसरः—प्रेमस्तद्धेतुत्वात् प्रसरः, "प्रसरस्तु सङ्गरे प्रणये" [अने स. का ३ श्लो. ११७३] इति हैमानेकार्थोक्तेः, सु—अतिशयेन परवाणिः—धर्माध्यक्षो यः सः सुपरवाणिः, "परवाणिर्धर्माध्यक्षे" [अने. सं. का. ४ श्लो. १४५७] इति वचनप्रामाण्यात्, प्रसरश्चासौ सुपरवाणिश्च प्रसरसुपरवाणिस्तस्य । तथा किम्भूत. अः ? 'प्रखौः' प्रगता खौः—उत्पत्तिर्यस्मात् स तथा । कस्य ? 'रः' पापस्य, "ऋर्निषेधो भवः पूषा, वरुणोऽमरराडजः । करी तरुर्नरः पाप्मा" [सौ. ए. ९] इत्युक्तेः, "खव् भूतिपूत्युत्पत्तौ" क्विबन्तः । किम्भूताः सुगिरयः ? 'ऋरभर्त्तारः' आः—धर्मः. " ऋशब्द पावके

---

१ 'अभ्यगोरः' इत्यस्य व्याख्यानं लेखकप्रमादात् पतितमादर्शे ।

सूर्ये घर्मे" [वि ए. ११] इति वचनात्, रं—धनं, "र रत्न रोदन धनं" [सौ ए ८३] इत्युक्तेः, आ च र च आरे, तयोर्भर्त्तार–पोषका ये ते तथा। पुनः किम्भूतः अः? 'परीर' परीरहेतुत्वात् परीर, यदुक्तमुणादौ—"परीरं वल" [सि. हे उ सू ४१८]। पुनः किम्भूतः अः? 'स्वनेरः' न नन्ति एरा:—एडका यस्यासौ अनेरः, सुष्ठु अनेरः स्वनेरः। पुनः किम्भूतः अः? 'कनिरसनरवृद्धे' केन—दुःखेन निरसना—निरासाः कनिरसना, "निरसनं निसूदने। निष्ठीवने निरासे च" [अने स का ४ श्लो १५५०] इत्युक्ते राः—नराः, कनिरसनाश्च ते राश्च कनिरसनरास्तेषां वृद्धिः—हर्षो यस्मात् स तथा, तस्य कनिरसनरवृद्धेः—यतिनः 'पतिः' स्वामी। पुनः किम्भूतः अः? 'अर्ज्यधी' उपार्जनार्हध्यानः। किम्भूतस्य कनिरसनरवृद्धेः? 'अचिकुरसाधोः' "चिकुरोऽही गृहे वभ्रौ, केशे चञ्चलशैलयोः।" [अने स का. ३ श्लो ११५५] इत्युक्ते न चिकुरः अचिकुरः—अचञ्चलः, साधुः—मनोज्ञः, अचिकुरश्चासौ साधुश्च अचिकुरसाधुस्तस्य। पुनः किम्भूतः अः? 'अर्वसंरग्यली.' "अर्व गतौ" अर्वन्ति—धर्माद् दूरं यान्ति ये ते अर्वाः—नास्तिकमतिनः, "रगक् स्वादाऽऽप्त्योः. तान् संरागयन्ति—प्राप्नुवन्तीत्येवंशीला अर्वसंरगिनः, तेन लीयन्ते—नाश्लिष्यन्ते यत्रासौ अर्वसंरग्यली. ॥५४॥

अथोपसंहारमाह—

इत्थं देवेन्द्रसङ्घप्रणतनरपतिह्लाददस्तीर्थनाथो,
भद्रं दद्यादरः सोऽभिमतधृतिततिप्राप्तिदः प्राप्तमुक्तिः।

ख्यातश्रीवाचकज्ञानविमलसुगुरूणां प्रसादाद्धि यस्य,
चक्रे श्रीवल्लभेन प्रदलदशशताम्भोजगर्भस्तवोऽयम् ॥५५॥

व्याख्या—सः 'अर' श्रीअरनाथजिन 'भद्रं' मङ्गलं 'दद्यात्' प्रयच्छतु । सः कः ? यस्य 'अयं' प्रत्यक्ष 'इत्थं' अमुना प्रकारेण 'प्रदलदशशताम्भोजगर्भस्तव' प्रकृष्ट दलानां पत्राणां दशशतं—सहस्रं यस्मिंस्तत् प्रदलदशशतं, तच्च तद् अम्भोजं च—पद्मं प्रदलदशशताम्भोज, तद्गर्भो यस्मिन् स प्रदलदशशताम्भोजगर्भः, स चासौ स्तवश्च—स्तवनं प्रदलदशशताम्भोजगर्भस्तवः 'चक्रे' अकारि । केन ? ['श्रीवल्लभेन'] श्रीवल्लभाख्येन साधुना इत्यर्थः । कस्मात् ? ख्यातश्रीवाचकज्ञानविमलसुगुरूणां प्रसादात् 'हि' इति निश्चये । किम्भूतोऽरः ? 'देवेन्द्रसङ्घप्रणतनरपतित्वादः' सुरेन्द्रनिकरनम्रमनुजेश्वरप्रमोददायकः । पुनः किम्भूतोऽरः ? 'तीर्थनाथः' चतुर्विधसङ्घनाथः । पुनः किम्भूतोऽरः ? 'अभिमतधृतिततिप्राप्तिदः' अभिमताः—वाञ्छिता धृतयः—सन्तोषसुखानि तासां ततिः—श्रेणिः अभिमतधृतिततिस्तस्याः प्राप्तिदो यः स तथा । पुनः किम्भूतोऽरः ? 'प्राप्तमुक्तिः' अवाप्तसिद्धिः ॥५५॥

इति श्रीसहस्रदलकमलगर्भितश्रीअरनाथजिनस्तववृत्तिः समाप्ता ।

[वृत्तिकार–प्रशस्तिः।]

खरतरगणजलधिसमुल्लासनरजनीपतिप्रकाराणाम् ।
नम्रानेकनराणां, श्रीजिनमाणिक्यसूरीणाम् ॥१॥
पट्टे वरे [ऽधि] विजयिषु, कुमतिलताजातनाशनहिमेषु ।
श्रीमच्छ्रीजिनचन्द्राभिधानसूरिष्वधीशेषु ॥२॥
युग्मम् ।
येषां स्फुरत्प्रतापाधिक्यजितः सन् निरन्तरं भानुः ।
भ्रमतितमां वियति हि ते, ज्ञानविमलवाचका नन्द्युः ॥३॥
तत्पादाम्बुजमधुकरशिष्यश्रीवल्लभेन गणिना वै ।
विहिता स्तववृत्तिरियं, यदनृतमिह तद्बुधैः शोध्यम् ॥४॥
युग्मम् ।

॥ इति वाचनाचार्यधुर्यस्मर्यानेकवादीन्द्रकरीन्द्रवार-
पुण्डरीकप्रकारनिर्मलदिङ्मण्डलव्यापियश पुञ्ज-
श्रुताब्धिपारीण-वाचनाचार्यश्रीज्ञानविमलगणि-
प्रवराणां शिष्य-पण्डित श्रीवल्लभगणिना
कृता [स्वोपज्ञ]सहस्रदलकमलगर्भितश्री-
अरनाथजिनस्तववृत्तिः
समाप्तिमगमत् ।

षोडशोत्तर सहस्रदल पद्ममय वीर स्तोत्र

श्री सुन्दर विरचित सवृत्तिः चतुर्विंशति जिनस्तुति की
उपाध्याय श्रीवल्लभ द्वारा लिखित प्रतिका अन्तिम पत्र

परिशिष्ट क

श्रीवीरजिनस्तोत्रम् ।

(षोडशोत्तरसहस्रपत्रपद्ममयम्)

परम्परपरम्पारपूरपारपरपरम् ।
परम्परगुरस्पार पीर परपर परम् ॥ १ ॥

तारकं रतिरन्तार-तूरतारतरस्वरम् ।
निरन्तरमुरस्तार तार तारकरत्नरम् ॥ २ ॥

निरवरं निरम्वार निर . . . . ।
. मेरं निरस्तार, चर चौरचर चिरम् ॥ ३ ॥

सुरचीरचर नार, वरचार विरञ्चरम् ।
निरर्च्चिरर्च्चिरच्चारिं, निरञ्चार निरन्तरम् ॥ ४ ॥

सालङ्कार व्यलङ्कारमलङ्करणलक्षरम् ।
हारवारवरक्षीरशीलनीरस . . . ॥ ५ ॥

. रहरस्थूरघोरक्रूरकलङ्करम् ।
खुरखुरखलक्षार-कारस्करमुरश्वरम् ॥ ६ ॥

पुरन्दरपुरद्वार-द्वारपालनरप्ररम् ।
धुरक्षरकलङ्कालव्यालवारणरत्नरम् ॥ ७ ॥

नरकारण्यरथ्यार, चरणारन्तु . . ।
. . जुर सार, सारसौरपुरस्सरम् ॥ ८ ॥

चीरजारकरस्फार, द्वार-दूरचर चिरम् ।
सारङ्गलक्ष्मरं धीर-वीर वीरहर स्मर ॥ ९ ॥

सारदारदरक्षारवारपार दुरन्तरम् ।
तारयार तरस्तार-तरसा रक्तरक्त . . ॥ १० ॥
. . लस्य लज्जारं, मारज्वरज्वलत्पुरम् ।
स्फुरद्विरतिरत्नार-नारवर पुरन्दर ! ॥ ११ ॥
घोरचार चलद्घोर, सरश्वारभरस्वरम् ।
निरन्तरसर नीरसार तारय रन्ध्ररम् ॥ १२ ॥
वीरधीरस्फुरच्छीलशैलसारङ्गरङ्गर ।
गारवो रतर . . रतरस्तर ॥ १३ ॥
सार सारङ्गरङ्ग रविरतरतिर सारसारं सुरङ्ग,
रम्यं रम्यं रमार मरकरमरक रक्तरक्तारवारम् ।
वार वार विरक्तं रविरविरमर मारमार निरस्तं,
रक्ष्या रक्षारखारक्षरखरखरक . खारम् ॥ १४ ॥
स्मारं स्मार सुरश्मि रसरसरसरं सारसार गिरस्थं,
रङ्कारङ्कोरगारस्थिरचरमुरसा रन्त्ररक्तारत रम् ।
आरम्भारम्भरम्भेरमरपरपर वारपार परत्र,
. . . . श्वरश्वरचुरच लब्धरङ्कार . . . ॥ १५ ॥
स्वैर स्वैर शरण्य रणरणरणिर कारणारण्यरण्या,
रण्यारण्यं रसार सरसरसरसा रन्दरस्फारसीरम् ।
गोरं गोरङ्गिर ता रगरगरगिरं गौरगौरङ्गिरन्त,
रङ्गारङ्गारगारं करगिरमुरसा रङ्गिरङ्गैरगौरम् ॥ १६ ॥
सारं सारस्फुरद्गीरसरपरपर वारणैरन्तरस्या-,
रव्वारम्भारमारं करणरणरणं रङ्गिरङ्गैरगारम् ।
यो रम्भा रन्तु रम्भोरवरवरतरस्पेरणोरं धरस्या,
रक्ते रक्तोरजोर विरतिरविरतेरङ्कुरं स्मारयारम् ॥ १७ ॥

सौरभ्यारम्भलम्भैरविरस . सौरसारङ्गरङ्ग,
रक्षो रक्ष रमार परपरपुरतो रन्ध्ररन्ध्रैरहारम् ।
तार तार तरण्डं रथिरथरतिर स्थूरसारङ्गलण्ट,
लक्ष्यालक्ष्यैरपार परमलयलयं लब्धलक्षैरदूरम् ॥ १८ ॥

शरगरशरशर-सुरसरसरसर,
. . -खरतर-खरतर-खलखुर ।
परबल-परदर-परबलपरदर,
शरभरगरभर-सरभरगरभर ॥ १९ ॥

परमलपरमलनरनिरपरनल–
किरणरचरणरतरणिरगरणर ।
नरपुर-सुरपुर-सुरगुरजिर . .–
नरविरमरविरसरविरसर ॥ २० ॥

निरकल-नरकुल-कलतरवरवर,
करणर-तरणर-विरतर-णरणर ।
गिरधर-गिरकल-गुरवुर-सिरतिर,
निरमर-निरजर-परपुर-मुरसर ॥ २१ ॥

निरवर-निरवर-थ . . . जलजर,
चिरमर-मुरतर-दुरतर-दुरहर ।
नरकर-नरकर-करनर-निरकर,
सरसर-सुरपुर-परयुर-मरसर ॥ २२ ॥

वरकरदुरमरदरलरनिरमल-
शरदिरवररलकिरकरसुरविर ।
सुरनर . . . र हरकुरनिरचर,
अररदरसरचरकुरधुरतर ॥ २३ ॥

गरधरचरकरवरतरसुरवर,
चरटरचरटरवरटरकरटिर ।
जरठरनरवरजरठरपरठिर,
सरडरसरडरकरटरटरहर ॥ २४ ॥
प . . . . रसुरवरवरपर,
परकरणरपरणरवरणरहर ।
निरजिरनिरजिरनिरजिरनिरजिर,
दुरशिरदुरशिरदरहरनिरसुर ॥ २५ ॥
दुरसुरनिरधरनरधरचरधर,
चरदरसरदरदर . . रसर ।
स्वरचलचलनरकुलसरकलकल,
भरतरभरतरवरतिलतिल्कर ॥ २६ ॥
कुरकुरङ्करकीरकर करं,
दर पुरन्दरदूरदर दरम् ।
हरविरञ्चिरमारवर चिरं,
चिरतर चर चौरचरं वरम् ॥ २७ ॥
ध . . धर धरणोरधर,
विरतेरतरन्तरणीरतिरम् ।
किल कालहरं कुलकारकरं,
स्मर वीरवरं शरणोरतरम् ॥ २८ ॥
वरशीलवर वरनीरवरं,
सुरचीरसर सरसीरसरम् ।
करवीरकरं करणैरकरं,
स्मर व . . स्मर वीरहरम् ॥ २९ ॥

वीर वरं वरतर वरवरवार,
धीरं धर धर धुरन्धरधीरधीरम् ।
सारस्वरं स्मर सरस्थिरसारसीरं,
धीर धर धर धर वर वेरवेरम् ।। ३० ।।
दरभरदरदार दूरदार दुरन्त,
रदिरदरद , र भारभारम् ।
भर भरभरभारं भैरवारम्भरहो,
रहरहरहर हीर हर हीरहीरम् ।। ३१ ।।
सुरवर-सुरवर-सुरवर-सुरव,
रविरथरविरथरविरथरथर ।
करतरकरतरकरकरचरण,
रविरलरविरलरविरलरवल ।। ३२ ।।
वीर पर वरपर परवारवार,
हीर हर हर हर हरहार हूरम् ।
कीर कर कर कर करकारकार,
नीर निरङ्कुरकर निरगारसारम् ।। ३३ ।।
सुरद्रुर सुरसुरं सुरशैलसार,
सारङ्ग . . रतर हर सैरसारम् ।
सारत्वर दरतर गरयैरहार,
हार हिरण्यरपुर परमेरपारम् ।। ३४ ।।
श्रीरत्नरत्नरमर नरवारणै र,
हैरण्यर वरकर करमालवारम् ।
हार सुरस्युरसिर गरमालचाल,
व्यार . . बरकर वर वीरवीरम् ।। ३५ ।।

वीर स्मरन्त्युरतर नरनीरजोर,
पारम्पर परपर परमोरसारम् ।
तेरन्त्यर सुरपुर सु॰सैरसाल,
सारस्वरस्वरबल सुरतैरपारम् ॥ ३६ ॥

कैरक्षरखरतरक्षरनीरसीर–
. रस्थिर स्थिरतर सुरतैरतारम् ।
पार दुरन्तरजलस्यरसारसार,
श्रीलब्धरङ्गरसर सुरसालसालम् ॥ ३७ ॥

आरम्भरङ्गरतरङ्करजोरहार,
हेरम्वर वरतुरङ्गरसूरचारम् ।
सरम्भरम्भरसलम्भरसालवार,
सारं शरण्यरवरं सुलयोरसारम् ।
शार सुर तुरघर तुर . र सार,
वीरं स्मर स्थिरकर चरणोरचारम् ॥ ३८ ॥

पड्पदी,

अत्र बन्धे १०१६ षोडशोत्तरसहस्रपत्रबन्धमिदम् ।

श्रीः ॥

परिशिष्ट ख

उपाध्यायश्रीसहजकीर्त्तिगणिसन्दृब्धः

श्रीपार्श्वनाथजिनस्तवः

(गतप्रत्यागतमयः)

श्रीनिवास सुरश्रेणिसेव्यक्रमं,
वामकामाग्निसतापनीरोपमम् ।
सावधेयादिदेवाधिकोपक्रम,
तत्त्वसज्ञानविज्ञानभव्याश्रमम् ॥ १ ॥
नव्यनीरागताकेलिकर्मक्षम,
यं[य]स्य भव्यैर्भजे नाम सम्यग्भ्रमग् ।
नीरस पापह स्मर्यते सत्तम,
तिग्ममोहार्त्तिविध्वस्ततापाश्रमम्[1] ॥ २ ॥
लब्धप्रमोदजनकादरसौख्यधाम,
तापाधिक[2]प्रमदसागरमस्तकामम् ।
घण्टारवप्रकटिताद्भुतकीर्त्तिराम,
नक्षत्रराशिरजना[?नी]गनताभिरामम्[3] ॥ ३ ॥
घण्टापथप्रथितकीर्त्तिरमोपयाम,
नागाधिप परमभक्तिवशात् सवामम् ।
गंभीरधीरसमतामयमातङ्गम[4] (?),
मं[?म]र्त्यानित नमत त जिनप निकामम् ॥ ४ ॥

---

१ °तायाश्रम' इति ना. ।
२ 'तापाधिक –' इति जे ।
३ °रजनायलताभिरामम्' इति जे ।
४ °माजगाम' इति ना ।

संसारकान्तारमपास्य नाम
कल्याणमालास्पदमस्तशामम् ।
लाभाय बभ्राम तवाविराम,
लोभाभिभूत. श्रितरागधूमः ॥ ५ ॥

कर्मणा राशिरस्तोकलोकोद्गम–
संसृते. कारण मे जिनेशावमम् ।
पूर्णपुण्याढ्य दु ख विधत्तेऽन्तिम,
र्ण[? न]क्षमस्त्वां विना कोऽपि त दुर्गमम् ॥ ६ ॥

कार्मण निर्वृतेर्हन्तुमन्योऽसम
यं[? य]क्षराट्पूज्य तेनोच्यते निर्मम ।
श्रीपते ! त जहि द्राग् विधायोद्यम,
दानशौण्डाद्य मे देहि ऋद्धिप्रमम् ॥ ७ ॥

यस्य कृपाजलधेर्विश्राम
कण्ठगताशुसुभटसङ्ग्रामम् ।
भयजनकव्याया . . . म,
जेतार जगत श्रितधामम् ॥ ८ ॥

कक्षीकृतवसुभृतपुग्राम,
लापोच्चारमहा . . . मम् ।
केशोच्चयमिह नयने क्षामं,
लिङ्गति कमला[1] कुरु ते क्षेमम् ॥ ९ ॥

कलयति जगता प्रे . . . . मं,
लम्भयति सौख्यपटलमुद्दामम् ।
काल हन्ति च गतपरिणामं,
मह तं महिमस्तो . . . मम् ॥ १० ॥

---

१ 'कमला' इति जे ।

रसंन[?न]येप्सितदानसुरद्रुम,
हितमहीरुहवृद्धिजलोत्तमम् ।
तं[1][?त]हणपुण्यरमोदयसङ्गम,
समरसामृतसुन्दरसयमम् ॥ ११ ॥

हिनस्ति सद्ध्यानवशात्[2] स्म मध्यमं,
तं तीर्थनाथ स्वमतप्लवङ्गमम्[3] ।
सुरासुराधीशमसोघनैयम,
रैः नाथ सम्पूजितपद्युग स्तुमम् ॥ १२ ॥

संसारमालाकुलचित्तमादिम,
सा[?शा]स्त्रार्थसवेदनशून्यमश्रमम् ।
रम्याप्तभावस्थितपूर्णचिद्घन,
सर्पाङ्कित शोषितपापकर्द्दम ॥ १३ ॥

रत्नत्रयालङ्कृतनित्यहेम !
सीमाद्रिसारोपमसत्त्वसोम ! ।
शोभामयो ज्ञानमय विसाम,
षड्वर्ग मा देव विधेह्यकामम् ॥ १४ ॥

भावविभासकनष्टविलोम,
स्कन्दितस्कन्दलत प्रणमाम ।
रङ्गपतङ्गनिवारणसुभीम,
कम्बुदान(गल) जिनप हत ते भीमम् ॥ १५ ॥

---

१ 'त सदापुण्य—' इति जे ।
२ 'सब्दयानावस्थितस्य' इति जे ।
३ 'स्मरप्लवङ्गम' इति जे ।

मन्त्रेश्वर पार्श्वपति परिश्रमं,
लाभाश्रितस्यापनया मनोरमम् ।
कर्मोत्थित मे जिन साधु नैगम,
रम्भाविलासालसनेत्रनिर्गमम् ॥ १६ ॥
समितिसारशरीरमविभ्रम,
हरिनतोत्तमभूरिगमागमम् ।
श्रयत तं नितमानभुजङ्गम,
फलसमृद्धिविधानपराक्रमम् ॥ १७ ॥
धर्मैयेश सृजति श जिनसार्वभौम,
तारस्वेरण विबुधै श्रित .... र्होम ।
शोकारिमारिविरहयतवात्तदाम,(?)
भव्यै स्तुत निहतदुर्मतदण्डख .. मम् ॥ १८ ॥
माद्यास्वुजध्वसविधौ महद्धिम,
न वाजयत्याशुमनस्तुरङ्गमम् ।
मन्त्रोपम ते जिन राम[?ग]पञ्चम,
स्तवेन युक्तं गुणरत्नकुट्टिमम् ॥ १९ ॥
कलिशैलोरुव्याधाम–
माहात्म्य हृदयङ्गमम् ।
लब्धश्रितवसुत्राम,
यन्तिवर्गस्तुन नुमम् ॥ २० ॥
लोकोत्पत्तिविनाशसंस्थितिविदा मुख्य जिन वै स्तुमं,
द्रव्यारक्तसमाधर नमत भो! पूजा वरा पाश्चिमम् ।
परपक्षस्य तव स्तवं त्वन्निमित्त .. करीन्द्रगं
तत्तद्भावमयं वस वदतस्त्रैकाभ्यस्तर्वदमम्(?) ॥ २१ ॥

नयनाननसद्रोम,
सन्तति तव जङ्गम ।
स्थावराशु[?सु]मता स्याम,(?)
नयते शकक्त्रिमम् ॥ २२ ॥
दासानुदासस्य मम,
नवानन्दविहङ्गमम् ।
माद्यति प्राप्य सुप्रमं(?)
नंपा [?नया] क्षत्ता महाद्रुमम् ॥ २३ ॥
क्षमाबोहित्थनिर्याम, मानवार्च्यं महाक्षमम् ।
गुणिपूज्यं प्रीणयाम , रुंचि[?रुचिं]स्तौमि नम नमम् ॥ २४ ॥
स्मरन्ति य मुन्दरयक्षकर्दमं,
रागात् समादाय महन्ति कौङ्कुमम् ।
मियो मिलित्वा मबु(?)जाड्यकुङ्कुम,
चन्द्रानन तं प्रविलोकताद्रमम् ॥ २५ ॥
इत्थ पार्श्वजिनेश्वरो भुवनदिक्कुम्भ्यङ्गचन्द्रात्मके,
वर्षे वाचकरत्नसारकृपया राकादिने कार्त्तिके ।
मासे लोद्रपुरस्थित शतदलोपेतेन पद्मेनस-
न्नूतोऽय सहजादिकीर्तिगणिना कल्याणमालाप्रद ॥ २६ ॥
श्रीवामातनय नीतिलताघन घनागमम् ।
सकलालोकसपूर्णकाय श्रीदायक भजे ॥ १ ॥
कलाकेलि कल कामरहित सहित सुरै ।
ससारसरसीशोपभास्कर कमलाकरम् ॥ २ ॥
सहस्रफणताशोभमानमस्तकमालयम् ।
लोद्रपत्तनसस्थानदानमान क्षमागुरुम् ॥ ३ ॥
स्मरामि च ।

[शतदलकमलबहि स्थो लेख]

ऐं नम.।

श्रीसाहिर्गुणयोगतो युगवरेत्यर्थं पद दत्तवान्,
येभ्यः श्रीजिनचन्द्रसूरय इलाविख्यातसत्कीर्त्तय ।
तत्पट्टेऽमिततेजसो युगवरा श्रीजैनसिंहाभिधा-
स्तत्पट्टाम्बुजभास्करा गणधराः श्रीजैनराजा श्रुता ॥ १ ॥

तैर्भाग्योदयसुन्दरैरिपुसरस्वत्षोडशाब्दे (१६७५) सित-
द्वादश्या सहस. प्रतिष्ठितमिद चैत्य स्वहस्तश्रिया ।
यस्य प्रौढतरप्रतापतरणे. श्रीपार्श्वनाथेशितु,
सोयं पुण्यभरा तनोतु विपुला लक्ष्मी जिन सर्वदा ॥ २ ॥

पूर्वं श्रीसगरो नृपोऽभवदलङ्कारोन्वये यादवे,
पुत्रौ श्रीधरराजपूर्वकधरौ तस्याऽथ ताभ्या क्षितौ ।
श्रीमल्लोद्रपुरे जिनेशभवनं सत्कारितं खीमसी,
तत्पुत्रस्तदनुक्रमेण सुकृती जात. सुत पूनसी ॥ ३ ॥

तत्पुत्रो वरधर्मकर्मणि रतः ख्यातोऽखिलैस्सद्गुणै,
श्रीमल्लस्तनयोऽथ तस्य सुकृती श्रीथाहरूनामक ।
श्रीशत्रुञ्जयतीर्थसङ्घरचनादीन्युत्तमानि ध्रुव,
य कार्याण्यकरोत्तथा त्वसरफी पूर्णा प्रतिष्ठाक्षणे ॥ ४ ॥

प्रादात् सर्वजनस्य जैनसमय चालेखयत् पुस्तक,
सर्वं पुण्यभरेग पावनमल जन्म स्वकीय व्यधात् ।
तेनाय भवनस्य यस्य जिनपस्योद्धारकः कारितः,
सार्द्धं सद्धरराजमेघतनयाभ्यां पार्श्वनाथो मुदे ॥ ५ ॥

श्री.।

परिशिष्ट ग

— मूलपद्यानामकाराद्यनुक्रमणिका —

परिशिष्ट घ

वृत्तिकारोद्‍धृतग्रन्थानां तालिका

अनेकार्थनाममाला ३–४, ३–१०, ४–७, ४–८, ४–१०, ५–६, ५–१७, ६–१९, ८–२, ९–१५, १०–१५, १३–११, १३–२२, १४–१२, १८–२२, २३–३, २३–१४, २४–३, २४–८, २४–१८, २४–२१, २५–७, २५–१४, २५–१९, २५–२२, २६–११, २७–२, २७–१२, २८–१, २८–४, २८–६, २८–१७, २८–१९, २९–२३, ३२,–५, ३२–११, ३२–२२, ३३–७, ३३–१२, ३५–११, ३५–१४, ३७–४, ३७–८, ३७–१८, ४०–१०, ४२–१८, ४३–२, ४३–३, ४३–६, ४३–१९, ४४–६, ४४–२०, ४५–१०, ४६–५, ४६–१६, ४६–२०, ४८–३, ४८–१०, ४८–१७, ४८–२०, ४९–३, ४९–१४–१५, ५०–२, ५०–७, ५४–२, ५४–१७, ५५–१३, ५६–१२, ५७–२२, ५८–१०, ५८–१३, ५८–१६, ५९–६, ५९–७, ५९–१३, ५९–१४, ५९–२२, ६०–७, ६०–२०, ६१–३, ६२–१, ६२–७, ६२–९, ६२–१७, ६२–१९, ६१–२१, ६४–१६, ६५–२, ६५–१७, ६५–१९, ६५–२१, ६५–२३, ६६–१, ७०–२१, ७१–१३, ७१–१७, ७२–९, ७२–१९, ७५–७, ७५–१९,